वेद वाणी

[हिन्दी अनुवाद]

तृ
ती
य
प्र
चा
र



स्वामी पूर्णानन्दजी गिरि
बंगाली शिवालय, ऋषिकेश [हरिद्वार]

वेद-वाणी

तृ ती य प्र चा र

हिन्दी–अनुवाद

अनुवादक : ब्रह्मलीन स्वामी विज्ञानानन्दजी

—स्वामी श्रीपूर्णानन्दजी महाराज
शिवालय, ऋषिकेश (हरिद्वार)

प्रकाशक : **पं० कैलाश नाथ**
मंत्री–पूर्णानन्द मैमोरियल ट्रस्ट
शिवालय ऋषिकेश (हरिद्वार)

सम्पादक : **विजय** एम. ए.,

प्राप्ति स्थान : १. **बंगाली शिवालय**
ऋषिकेश, हरिद्वार।

२. **कु० निर्मला शर्मा** एम. ए. एल. टी,
सुपुत्री पं० जयनारायण शर्मा
मुहल्ला रायजादगान
कांधला, (जि० मुजफ्फर नगर)

मूल्य : चार रुपये

दीपावली २०३७

सम्पादकीय

भगवत्प्राप्ति के लिये उपासना हेतु शास्त्रों ने कर्म, ज्ञान, तथा भक्ति तीन मार्गों का प्रतिपादन किया है। इन्हीं की मर्यादा में अनेक महात्माओं ने आराधना की और प्राप्ति भी।

यदि यों कहें कि कर्म, ज्ञान और भक्ति एक त्रिकोणाकार सरोवर के तीन तट हैं जहाँ पहुँचकर साधक एक ही परम तत्व की प्राप्ति करता है, तो अत्युक्ति न होगी।

"कलौ नास्त्येव गतिरन्यथा हरेर्नामैव केवलम्" की उक्ति पूर्वंत: सत्य है, परन्तु कर्म और ज्ञान मार्ग का विरोध कहीं नहीं है। भक्ति का पथ कलयुग के लिये सहज सुलभ और सुगम है। यद्यपि कलयुग में ज्ञान मार्ग की साधना के लिये सहज वातावरण का अभाव है, फिर भी जिन महानुभावों ने ज्ञान मार्गसे उपासना कर प्राप्ति की है वह दुर्लभ अवश्य हैं। यों कहना होगा कि इन तीनों मार्गों का परस्पर शाश्वत सम्बन्ध है। एक दूसरा परस्पर में ओत-प्रोत है। ज्ञान के बिना भक्ति नहीं टिकती और भक्ति के लिये ज्ञान भी परमावश्यक है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहीं कुछ भेदा' दोनों का समन्वय ही सौन्दर्य है। कोरा ज्ञान शुष्क है, नीरस है। भक्ति का पुट लगने पर सरस और मधुर हो जाता है। विवेक तो इनमें निहित हैं ही।

●

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेद वाणी' तृतीय प्रचार ब्रह्मलीन स्वामी श्रीपूर्णानन्दजी महाराज के अपने शिष्यों को लिखे गये पत्रों का संग्रह हैं। पुराण, शास्त्रों की विचारधारा में पगे महत्‌जनों के वाक्य वेदों का सार ही है— इसी विचार से इस ग्रन्थ का नाम 'वेद वाणी' रखा गया।

स्वामीजी महाराज ने यह पत्र अंग्रेजी तथा बंगला भाषा में लिखे थे। उन्हीं भाषाओं में ग्रन्थ के रूप में बद्ध हुए। अब इनका हिन्दी अनुवाद स्वामीजी महाराज के शिष्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीविज्ञानानन्द जी ने किया।

अनुवाद करना कितना कठिन है, इससे पाठक भली भाँति परिचित हैं। एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्दों का उपयुक्त चयन, भाव संरक्षण, अत्यन्त कठिन होने पर भी, अनुवादक महोदय ने अथक प्रयास किया है जो सदैव प्रशंसनीय है। विज्ञानानन्द जी महाराज बंगाली थे उनकी मातृ-भाषा भी बंगला थी, अतः अनुवाद में उचित रूपान्तर स्वरूप ठीक शब्द न मिल पाने पर उन्होंने बंगला का पुट जहां-तहां दिया है। अनुवाद की भाषा को परिवर्तन करके छापना उसके परिश्रम पर कुठाराघात करना होगा। जहां-जहां भाषा की अस्पष्टता लगी—प्रयास किया गया कि उसे स्पष्ट कर दिया जावे, पाठकों की सुविधा के लिये किया भी गया। मैं उन दिवंगत श्रीविज्ञानानन्दजी से करबद्ध क्षमा चाहूंगा जिससे उनकी आत्मा को कष्ट न हो।

ग्रन्थ का विषय पाठकों के सामने है। यह पूज्य स्वामीजी महाराज के जीवन की वास्तविकता है। छोटे-छोटे वाक्यों और दैनिक उपयोग में आने वाले सरल उदाहरणों के माध्यम से स्वामीजी ने जो उपदेश दिये हैं वह साधक वर्ग के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

—सम्पादक

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक बंगला 'वेदवाणी' तृतीय प्रचार पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है, जिसको ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी विज्ञानानन्द महाराज ने अपने जीवनकाल में किया था। स्वर्गीय श्रीपण्डित जयनारायणजी परम गुरु भक्त थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि हिन्दी अनुवाद छपवाया जावे। उनकी सुपुत्री श्रीसुशीला शर्मा एम.ए., श्रीनिर्मला शर्मा एम.ए. तथा सुपुत्र श्रीलक्ष्मीनारायण शर्मा एम. ए. के प्रयास से इस कार्य में सफलता प्राप्त होने जा रही है। प्रस्तुत अनुवाद के संशोधन आदि का श्रेय श्रीविजय एम. ए., वृन्दावन निवासी को हैं। उनको हार्दिक धन्यवाद।

श्रीभगवान से प्रार्थना है कि पं० जयनारायणजी की पुण्यात्मा को चिर शान्ति दें।

सही—स्वामी निर्दोषानन्द गिरि
प्रेसीडेन्ट
स्वामी पूर्णानन्द मैमोरियल ट्रस्ट
शिवालय, ऋषिकेश

सम्वत् २०३७

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेदवाणी' का हिन्दी अनुवाद श्रीविज्ञानानन्दजी की कृपा से सुलभ ही पाया। यह ग्रन्थ मूल रूप में बंगला भाषा में लिखा गया था। अनुवाद करने में स्वामीजी ने काफी कुशलता दिखाई है। अनुवाद सर्वथा बंगला भाषा के अनुकूल बन पड़ा है।

पं० जयनारायण, कांधला निवासी श्रीस्वामीजी महाराज के अनन्य शिष्य थे तथा वात्सल्य-भाजन थे। उन्होंने स्वामीजी के उपदेशों को अपने जीवन में पूर्णतः उतारा था। ग्रन्थ की उपादेयता की सदैव प्रशंसा करते रहते थे। कहते-कहते पुलकायमान हो जाते अश्रुविन्दु प्रवाहित होने लगते। गद्‌गद् कण्ठ से कहा करते, यह ग्रन्थ हिन्दी में भी प्रकाशित होता तो अच्छा था। उनकी प्रबल इच्छा थी कि यह साधकोपयोगी ग्रन्थ हिन्दी में भी प्रकाशित हो। उनके सामने ऐसा नहीं हो पाया जिसका हमें खेद है। उनकी सुपुत्री श्रीसुशीला शर्मा, निर्मला शर्मा तथा सुपुत्र श्रीलक्ष्मीनारायण शर्मा के प्रयास से यह छपने जा रहा है। उनके परिश्रम के लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं।

इसके सम्पादन आदि तथा मुद्रण व्यवस्था के लिये हम श्रीविजय एम.ए. वृन्दावन,निवासी के आभारी हैं।

श्रीबिहारीदास, वृन्दावनी ने प्रूफ संशोधन मुद्रण, व्यवस्था तथा व्यक्तिगत रुचि लेकर पुस्तक छपवाने का जो सहयोग दिया है उसके लिये उन्हें धन्यवाद देते हैं।

—पं० कैलाशनाथ

मेरे गुरुदेव

स्वामीजी महाराज ने बंगाल में जन्म लिया। उच्च शिक्षा प्राप्त की। मैं विशेष पढ़ा लिखा न था फिर भी उनकी अत्यन्त कृपा का भाजन रहा।

मुझे बचपन में भजन साधन की कामना थी। मेरे एक मित्र ने सहसा कहा कि तुम्हें हरिद्वार से ऊपर किसी स्थान में गुरु मिलेंगे। ऐसा ही हुआ।

श्रीपूर्णानन्दजी गिरि सिद्ध कोटि के महात्मा थे। एक बार मैं हिमाचल जिला काँगड़ा में वैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग स्थान पर साधन में रत था। महाराज जी उस समय बनारस में थे। मेरे गुरु भाई श्रीभूमानन्दजी उनकी सेवा में थे। महाराजजी ने उनसे कहा ब्रह्मानन्द का साधन ठीक चल रहा है, उस पर आशुतोष भगवान की कृपा है। उन्हीं दिनों मैंने देखा कि वे मेरे सिर पर हाथ रखे मेरे पास ही खड़े हैं उस दिन से मेरा मन उनकी कृपा से विशेष प्रफुल्लित रहने लगा।

भौतिक चक्षुओं के सामने वे अवश्य नहीं रहे परन्तु उनकी अनुभूति नित्य बनी है।

ब्रह्मानन्द, शिवालय ऋषिकेश

जीवन परिचय

स्वामीजी महाराज गुप्त रहने के पक्ष में रहे, जिससे उनके जीवन-चरित्र के प्रथम पक्ष के विषय में कुछ भी प्राप्त नहीं है। वे जीवन-चरित्र के विषय में सर्वथा उदासीन रहे। फिर भी इधर-उधर से जो जानकारी प्राप्त हो सकी वह प्रस्तुत है।

उनका जन्म बंगाल में 'वारिशल' जिला में हुआ जो आजकल बंगला देश में है। उन्होंने उच्चशिक्षा प्राप्त की। पढ़ाने का काम भी किया। पढ़ाना छोड़ कर एल. एल. बी. करके, उन्होंने बकालत शुरू करदी। 'होनहार बिरवान के होत चोकने पात' वहाँ भी मन न लगा। माता के आग्रह पर विवाह हुआ, परन्तु वे अपने साधन में रत रहे। राजनीति में भाग भी लिया।

जगत से मन उचट गया। स्वामी राम-कृष्ण परमहंसदेव के कृपापात्र श्रीब्रह्मानन्दजी उन दिनों विद्य-मान थे। मन में विचार आया कि उनसे दीक्षा लूँ; और जाने को तैयार हो गये। देवी भगवती का आदेश हुआ कि साक्षात शंकर ही तुम्हें गुरु-रूप में प्राप्त होंगे। कुछ दिन पश्चात् पुनः स्वामी मुकानन्दजी से दीक्षा लेने की इच्छा हुई। कहते हैं जगन्माता स्वयं प्रकट हुई और कहा कि 'तुम्हें मेरे वचनों पर

विश्वास नहीं है।' उसके बाद ये हरिद्वार चले आये और जगद्-गुरु श्रीशंकर महादेव ने उन्हें स्वयं स्वर्गाश्रम में साक्षात दर्शन दिये।

वे ज्ञानमार्गी अवश्य थे परन्तु भक्ति उपासना के प्रति भी उनकी उतनी ही आस्था थी। उन्होंने जो कुछ भी लिपि बद्ध किया है वह सब प्रमाण स्वरूप हमारे सामने है। उनके आश्रम, शिवालय, ऋषिकेश के तीन द्वार भक्ति, ज्ञान तथा कर्म उन्हीं की समन्वयात्मक विचारधाराके पोषक हैं।

साधकों के प्रति वे कड़ा रुख अपनाते थे। शिथिलता न उनके जीवन में थी और न ही साधक में देखना चाहते थे। उसके लिये खरी-खरी सुनाने में भी वे नहीं चूकते थे, फिर भी बड़े-बड़े और पढ़े-लिखे लोग उनके अनुगत हुए।

केवल छः माह की साधना के पश्चात उन्होंने इष्टदेव की सिद्धि प्राप्त करली थी। इष्टदेव के आदेश का ही पालन कर उन्होंने साधकों को अपनाया।

श्रीविरजानन्दजी इन्हीं के शिष्य थे। वे स्वामीजी को बहुत पहले से जानते थे एकबार किसी ने पूछा कि महाराजजी की कोई बात सुनाओ 'उन्होंने कहा, कि एक बार मन्दिर में वे दर्शन कर रहे थे। किसी ने पीछे से गर्दन पर हाथ मार कर कहा देवता के दर्शन करो तो मैंने साक्षात् रूप में देव दर्शन किया।' वह व्यक्ति श्रीस्वामीजी महाराज ही थे।

स्वामी निर्दोषानन्दजी, और ब्रह्मानन्दजी विज्ञानानन्दजी आदि अनेक शिष्य हैं। ब्रह्मानन्दजी तो इनके अनन्य श्रद्धालू हैं कहते हैं एक बार ब्रह्मानन्दजी ज्वराक्रान्त

थे। महाराज जी से पूछा, बुखार है क्या करूँ, महाराज जी ने विनोद में कहा कि 'तेल मालिश कर गंगा में गोता लगाओ'। ये इतने भोले हैं कि ऐसा ही करने को तत्पर ही गये। किसी ने उन्हें ऐसा करते देखा कि और स्वामीजी से जाकर कहा कि ब्रह्मानन्द तो स्नान हेतु जा रहा है और उसे ज्वर है कहता है 'महाराजजी ने कहा है, स्नान करने से ज्वर ठीक होगा।' तब स्वामीजी स्वयं गए और ब्रह्मानन्दजी से कहा कपड़ा ओढ़ कर अन्दर लेट जाओ। महाराजजी कहा करते थे ब्रह्मानन्द बहुत योग्य साधक हैं।

इन्हीं के कृपापात्र और स्वामीजी के जीवन को आदर्श मानकर चलने वाले थे। कांधला (मुजफ्फर नगर) निवासी पं० जयनारायण जी। नम्रता की साक्षात् मूर्ति, दैन्य के अवतार और स्वामाजी के वात्सल्य भाजन। स्वामी जी जब लेटते तो ये उनके चरण दबाया करते। स्वामी जी के लिये हर समय अपने आपको समर्पण करने को तत्पर रहते।

एक बार ये बैठे चरण दवा रहे थे। इन्होंने स्वीमी जी से पूछा 'मुझ पर कृपा कब होगी'। स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'तुम्हें कठिन तपस्या करनी होगी'। पण्डित जी ने स्वयं कहा था कि उसके बाद से उनमें सरसता भर गई। और कृपा की अनुभूति होने लगी।

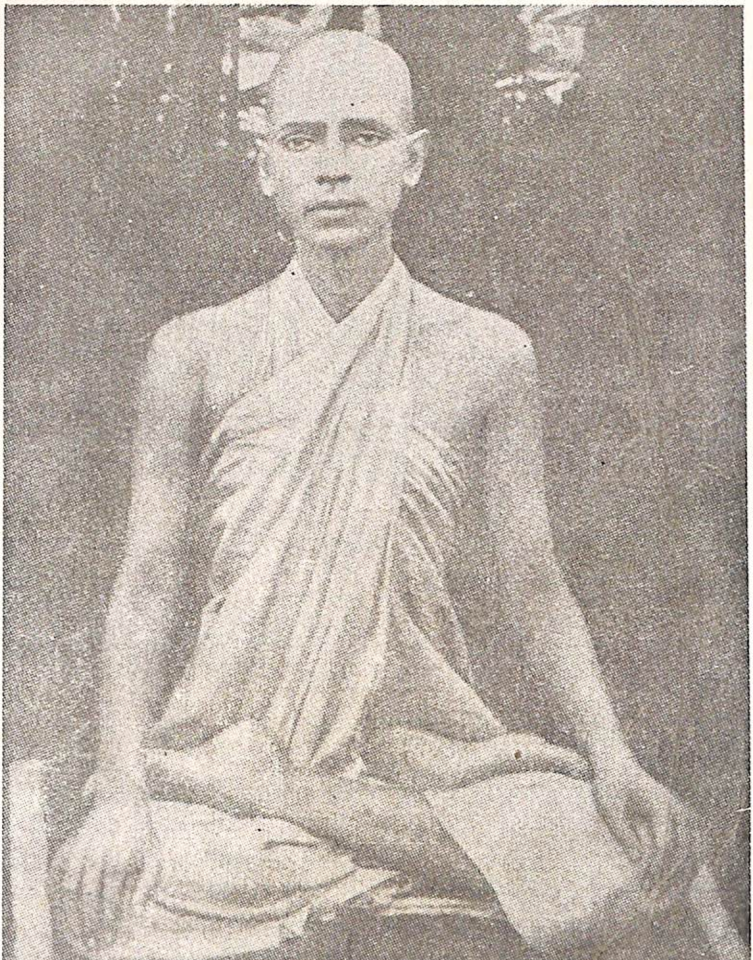
वे स्वामीजी महाराज के इतने वात्सल्य भाजन थे कि कभी-कभी महाराजजी इन्हें छेड़ते हुए कहा करते थे कि हमारे पास अनेक साधक हैं परन्तु यह (पंडित जयनारायण) निकम्मा है, कह कर हँसते। पंडितजी का जीवन बड़ा सादा था। वे साधन में दृढ़ थे। 'श्रीगीता' के प्रति उनकी अनन्यता थी।

स्वामीजो ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि १. स्टेज पर न आना २. शिष्य न बनाना। इन नियमों का कड़ाई से पालन करना। यही हुआ। इसीलिये करीब ३५ वर्ष ऋषिकेश में रहने पर भी स्वामीजी का व्यक्तित्व गोपनीय रहा और चरित्र अप्रकाशित।

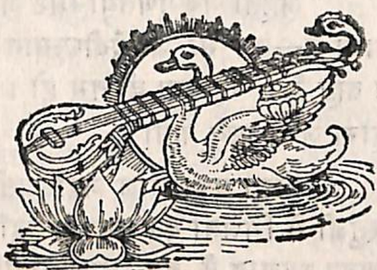
उनके चरित्र के पक्ष में हमारे सामने अनेक ग्रन्थ ही प्रमाण स्वरूप हैं उन्हीं में उनका चरित्र समाया है।

करीब ६० वर्ष तक इधर जगत में रहकर सन् १९३६ वर्ष की दीपावली के दिन पूर्ण समाधि में लय हो गए।

विजय एम. ए.



प्रथम भाग



१

ॐ

विश्व जब विलीन हो जाता है, भेद जब मिट जाता है तब भी जो विराजमान रहते हैं, वे निराधार सत्य ज्योति ही ब्रह्म हैं। वह ब्रह्म ही तुम हो, तुम जड़ पुतले नहीं। फिर तुम किसके अधीन होंगे ?

अहंता जब पूर्णतया मिट जाती है, जीवत्व जब लुप्त हो जाता है—तब भी जो दैदीप्यमान रहते हैं, वह नित्य ज्योति ही ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही तुम हो। तुम जड़ पुतले नहीं। फिर तुम्हारा जन्म-मृत्यु कैसा ?

दिशा तथा काल जहाँ प्रतीत नहीं होते, वस्तु भेद (वस्तुओं में भिन्नता का ज्ञान) जहाँ नहीं रहता, समरसता ही जिनका स्वभाव है, वह अखण्ड-ज्योति ही ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही तुम हो, तुम जड़ पुतले नहीं। तुम्हारा फिर शुभाशुभ कैसा ?

स्पन्दन जब निरुद्ध हो जाता है, जड़ता जब मिट जाती है, आवरण जब भंग हो जाता है, तब भी जो वर्तमान रहते हैं, वह अचल ज्योति ही ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही तुम हो। तुम जड़ पुतले नहीं। तुम्हारा फिर कर्म-बन्धन कैसा ?

सूक्ष्म से भी जो सूक्ष्म है, व्योम-पञ्चक से भी (पाँच आकाशों से) जो बढ़कर है। (अधिक व्यापक है) जो 'शान्तं शिवम द्वैतम्' हैं, वह ध्रुव ज्योति ही ब्रह्म हैं। वह ब्रह्म ही तुम हो। तुम जड़ पुतले नहीं। तुम में फिर दोष-गुण कैसा ?

ज्योति समूह के जो जीवन है, सम्पूर्ण प्रकाशों से भी जो अधिक प्रकाश वाले हैं, स्थिरता ही जिनका स्वरूप हैं, वह स्वयं ज्योति ही ब्रह्म हैं। वह ब्रह्म ही तुम हो। तुम जड़ पुतले नहीं। तुम्हें फिर कौन प्रकाशित करेगा ?

संशय जहाँ नहीं रहता, शोक जहाँ नहीं प्रवेश कर सकता, जो चिर नवीन और रसस्वरूप हैं, वह आनन्द-ज्योति ही ब्रह्म हैं। वह ब्रह्म ही तुम हो। तुम जड़ पुतले नहीं। तुममें फिर दुःख दीनता कैसी ?

जिन्हें प्राप्त करने से संशय मिट जाता है, स्पृहा नष्ट हो जाती है, मोह बन्धन टूट जाता है, हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है, वह पूर्ण ज्योति ही ब्रह्म हैं। वह ब्रह्म ही तुम हो, तुम जड़ पुतले नहीं। तुम में फिर अतृप्ति कैसी ?

ब्रह्म तुम—"सत्यं ज्ञानमनन्तम्"।
ब्रह्म तुम— "शुद्धमपापविद्धम्"।
ब्रह्म तुम— "एकमेवाद्वितीयम्"।

यही होना पड़ेगा, पूर्णतया होना पड़ेगा। 'ब्रह्म ही' होंगे, तुम्हारा "अहं," तुम्हारा 'अहं' ही होगा ब्रह्म। भेद किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहेगा। पूर्णरूप से विलीन हो जाना पड़ेगा। इस हाड़-चाम पर ब्रह्म का हलका सा लेप चढ़ाने से काम नहीं चलेगा। ब्रह्म जड़ नहीं हैं, चेतन हैं—

चिर-जागृत चैतन्यमय होना होगा। जड़ ब्रह्म का सुहावना वेष धारण करने से ही काम नहीं चलेगा।

इसलिये आवश्यकता है—विधिवत् प्रयत्न की। उस प्रयत्न में—सत्य तथा शौच, श्रद्धा तथा वीर्य तितिक्षा तथा धैर्य, विवेक तथा वैराग्य, संयम तथा सदाचार—इन सभी की आवश्यकता है। और भी आवश्यक है, अत्यन्त आवश्यक है—निरन्तर तपश्चर्या।

विधिवत् (वैध) प्रयत्न क्या है—यह तुम्हें मालूम है यहाँ पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

हरि ॐ तत् सत्

मैंने बहुत लिखा परन्तु पहिले जो कुछ तुम्हें बतलाया था, यदि उसको ग्रहण किया होता तो इतना लिखने की आवश्यकता न होती!

वीर-कांगड़ा
१२-५-२५

२

ॐ

एक सर्वाधार अनन्त भगवान "सच्चिदेक ब्रह्म" 'शान्तं शिव मद्वैतम्' 'अणोरणीयान्—महतो महीयान्' अपनी महिमा में चिर विराजमान हैं। 'यह शुक्रमकायमव्रणम्' यह 'अस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम्, यह अवाङ् मनसगोचरम्' अक्षर पुरुष ही अपने अचल गाम्भीर्य में नित्य विराजमान हैं। इन सर्वातीत स्वयं ज्योतिः सत्य स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, और न हो सकता है। यह अवकाश रहित एक मात्र ब्रह्म चैतन्य ही थे, एक मात्र यही हैं, और एक मात्र यही रहेंगे। ये अखण्ड देव ही सब कुछ हुए हैं, सब वेष इन्होंने धारण किये हैं और सब रूपों में ये ही प्रकाशित हो रहे हैं। जो कुछ है सब ये ही हैं। सब इन्हीं का प्रकाश है है तथा इन्हीं के द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। इन्हीं की महिमा वेद और पुराणों में इन्हीं की चर्चा दर्शन (दर्शन शास्त्र) और विज्ञान में, इन्हीं की

शक्ति विश्व भुवन में, इन्हीं की कहानी भक्त के क्रन्दन में, इन्हीं का आनन्द निद्रा एवं जागरण में इन्हीं, का विलास जीवन और मृत्यु में इन्हीं का प्रचार प्रत्येक स्पन्दनमें और इन्हीं का एश्वर्य सब भुवनों में है। ये ही ज्ञानी का मोक्ष, योगी का कैवल्य, बौद्ध का निर्वाण एवं भक्त का परमधन हैं। ये ही "गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृद" हैं। ये ही पतित-पावन, ये ही विपद-तारण और ये ही संसार-सागर के एक मात्र केवट हैं। ये ही परमामृत, ये ही परमानन्द, ये ही परमतृप्ति और ये ही परम-शान्ति हैं। इन्हीं के न होने से जीवन विषमय हो जाता है, और इन्हें प्राप्त करने से ही जीवन मधुमय बन जाता है। इनका दर्शन करते हुए इनमें विलीन होते हुए ही साधक भावरस में विभोर हो जाता है और प्रेम की मस्ती में अपने को भुला देता है। इन्हीं के अनन्त-रूप, अनन्त-भाव, अनन्त-सौन्दर्य, अनन्त-शक्ति, तथा अनन्त असीमता के अन्दर महायोगी पूर्णतया मग्न और लय (विलीन) हो जाते हैं। तपस्वी लोग विभिन्न समय में विभिन्न उपायों से इन्हें ही अनुभव करते हैं और आस्वादन करते हैं। सौभाग्यशाली प्रेमीजन प्रत्येक रूप में इन पूर्णदेवता का ही दर्शन करते हैं, और वे प्रत्येक शब्द में इनका ही नाम, इनकी ही बातें सुनते रहते हैं, एवं प्रत्येक स्पन्दन में इनकी ही अंगुलि निर्देश और इनकी ही लीला दर्शन करते रहे हैं। इनके ही अनन्त विलासमय अवतार-समूह, भक्त मनोरञ्जन मूर्ति-समूह, विश्वपावन रूपसमूह और आनन्दघन उपलब्धि-समूह साधक को नित्य वैकुण्ठ में प्रतिष्ठित करते हैं। सुनो यह है उनकी घोषणा:—"ये यथा माम् प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्।" अनन्त भावमय, अनन्त रूपमय, अनन्त करुणामय, वाञ्छा कल्पतरु (सब प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने वाले) विश्वमूर्ति भगवान ही साधक की रुचि तथा

प्रकृति के अनुसार उसे वांछित वस्तु प्रदान करते रहते हैं। इनकी ही पूजा सब मन्दिरों में, इनकी ही उपासना प्रासाद तथा कुटीर में होती है। सम्पूर्ण चराचर एक मात्र इन्हें ही चाहते हैं। ज्ञान से या अज्ञान से, मोह के नशे से अथवा विद्या के आलोक से सब एक मात्र इन विश्वदेवता का ही अनुगमन करते हैं। सकाम और निष्काम साधक, सगुण और निर्गुण उपासक, कर्मी भक्त तथा ज्ञानी, शैव, शाक्त तथा वैष्णव-सभी एक मात्र इनका ही भजन करते रहते हैं, और इनसे ही तपस्या का समूचा फल प्राप्त करते हैं। तुम इन्हें छोड़कर किसकी उपासना करोगे ? जिस "एकमेवाद्वितीयम्" सर्व शक्तिमान भगवान ने दूसरे की सहायता बिना ही विश्व-ब्रह्माण्डों की सृष्टि की है, जिसकी इच्छानुसार ही सब व्यापार हो रहे हैं, जिनसे बढ़ कर और कोई नहीं हैं, जो सर्वातीत परात्पर पुरुष हैं, वे ही एकमात्र उपास्य हैं। उनकी हीं कृपा से शैशव में माता का स्तनदुग्ध, विद्यालय में शिक्षक से उपदेश और संसार में सहायता देने वाले मित्रों एवं गुरु से साधन की विधि प्राप्त हुई है। वे ही सब प्राणियों को कोल्हू के बैल की नाईं तथा पुतले (खिलौने) की तरह चला रहे हैं। तब फिर मनुष्यों पर, वस्तुओं पर, अथवा शक्ति पर क्यों विशेष निर्भर रहोगे ? जो सब के चालक है, जो अर्जुन के सारथि बने थे, उन्हें ही अपने सारथिरूप से वरण करना होगा। तुम पूर्णतया उनकी ही अधीनता स्वीकार करो, अनन्य निष्ठा के साथ उनके ही द्वार पर पड़े रहो। एवं उनके ही मुंह की ताकते रहो; वे ही सब संशय तथा सारे विघ्नो को हटा देंगे। सुनो उनकी यह सुस्पष्ट वाणी।

"कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति"।
"मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि मत् प्रसादात् तरिष्यसि"।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज"।
"अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"।

तीव्र इच्छा रहने से ही जीवन सार्थक होता है। शान्ति के लिये, आनन्द के लिये त्रिताप की चिर-निवृत्ति के लिये चाहिये केवल इच्छा, केवल पुरुषार्थ, केवल व्याकुलता, केवल सरलता, केवल पवित्रता तथा केवल प्रेम और निर्भरता।

हरि ॐ तत् सत्।

३

ॐ

नारायणेषु !

अनन्त करुणा का मलयानिल सब दिशाओं को प्लावित करके प्रवाहित हो रहा है, तुम कैसे जड़ बुद्धि वाले हो, कि ऐसे महान् अवसर पर सब द्वारों को बन्द करके मोह निद्रा में समय नष्ट कर रहे हो ! वासना की जिस दावाग्नि के अन्दर मुग्ध-चित्त होकर तुमने अपनी सुख-शय्या स्थापित की है, वही तुम्हें शनैः शनैः जला रही है। तुम भ्रान्त चित्त होकर धन तथा कुटुम्ब के जिस कण्टक-तरु को स्नेह-वारि से सींच कर बढ़ा रहे हो, वही तुम्हारे देह और मन को जीर्ण-शीर्ण कर रहा है ! इन्द्रिय-परायण होकर तुम विषय के जिन तप्त लोह पिण्डों को प्रेम से आलिंगन कर रहे हो, वे ही तो सम्पूर्ण तेज तथा वीर्य के साथ तुम्हारे अनमोल जीवन को विनष्ट कर रहे हैं। तुम ऐसे विवश और सारहीन हो कि

देखकर भी नहीं देखते हो, जानकर भी नहीं जानते हो, समझ कर भी नहीं समझते हो! विश्व जननी के मुक्त-हस्त सदा सर्वत्र जिस अनुग्रह राशि को परोस रहे हैं, तुम अब भी उसकी अवज्ञा ही कर रहे हो! उनके सप्रेम आह्वान की अब भी उपेक्षा कर रहे हो! साधारण मनुष्य के समीप भी लोग कुछ संयत रहते हैं, परन्तु विश्वतश्चक्षु: जगद्गुरु के सम्मुख रहते हुए भी तुम लज्जाहीन होकर सदैव अन्याय और कुकर्म करते रहते हो। साधारण भद्र लोगों से भेंट करने के लिये भी लोग थोड़ी सफाई की आवश्यकता समझते हैं, परन्तु हीन बुद्धि वाले तुम महामहिम विश्व सम्राट के समीप भी अपवित्रता का मलिन वेष धारण करने में कुछ भी नहीं हिचकिचाते? अपना सिर तुम स्वयं काट रहे हो। दृष्टि खोलकर देखो तुम्हारे ऊपर और नीचे, दांये और बाँये, आगे और पीछे, सर्वत्र ही तुम जैसे आत्मघाती को महामृत्यु अपना विकट मुख फैलाकर निगलने को तैयार है। यदि जीवित रहना चाहते हो तो अभी सावधान हो जाओ। अभी तीव्र गति से भागो। तुम चिरकाल से संसार चक्र में पिस रहे हो और संसार ताप से सन्तप्त हो। बस! अभी इस मोह-गर्त से निकलो। द्वार खोलकर, आंखे खोलकर देखो, तुम ऐसे अयोग्य हो तथापि महामहिम कान्ति युक्त वरणीय देव हाथ में अमृत का कलश लिये दूसरों के समान तुम्हारे द्वार पर भी खड़े हैं! तुम मृत्युग्रस्त हो तथा उस अमृत के जीवनप्रद प्रवाह में स्नान करके स्वस्थ हो जाओ और कल्याण प्राप्त करो। तुम्हारे बन्धु ही बन्धन हैं। बन्धु ही दुःख हैं और और बन्धु ही मृत्युपाश हैं। एकमात्र भगवान ही शरण्य हैं, भगवान ही आश्रय हैं और भगवान ही गति हैं। यदि उनकी महीयसी करुणा को प्राप्त करके जीवन धन्य बनाना चाहते हो तो सांसारिक मोह-बन्धन स्नेह-बन्धन और अभिमान बन्धन

को तुरन्त काट डालो। सम्पूर्ण शक्ति एवं मनोबल से एकमात्र श्री भगवान का ही आश्रय स्वीकार करो। दूसरी ओर दृष्टि मत डालो और न कुछ भी सोचो। निश्चय करो—यही कल्याण का, यही धर्म का और यही सत्य का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने से ही शान्ति मिलेगी और इसे छोड़ते ही मृत्यु हो जायेगी। अन्तिम जन्म ही जन्म है और अन्तिम मृत्यु ही मृत्यु है। भगवन्मय जीवन ही सच्चा जीवन है। यदि इसी जीवन में ऐसा न कर सके तो मनुष्य होने का लाभ ही क्या? अमृत की प्राप्ति करना ही तो मानव जीवन का अधिकार तथा एकमात्र कर्त्तव्य है। यदि वही न हुआ तो तुम में और पशु में भेद ही क्या है? सोचकर देखो और विचार करो। फिर भी सुनलो—अधिक समय नहीं है। जितना विलम्ब करोगे, उतना ही कष्ट उठाओगे। जितना विलम्ब होगा उतना ही विघ्न बढ़ेगा। "विलम्बे कार्य हानिः स्यात्।" ॐ इति

मुर्दाघाट, ऋषिकेश
१७-२-२७

४

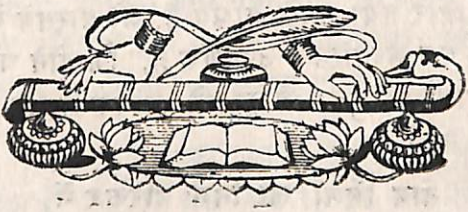
ॐ

नारायणेषु !

तुम चैतन्यमय हो, चैतन्य स्वरूप हो,— तुम्हारी जड़ अवस्था की संभावना कहाँ है ? तुम सदा ही स्थिर शान्त, अचल, अटल, अनन्त एवं व्यापक हो। तुममें जड़त्व आवेगा कैसे ? स्थूल दृष्टि लेकर कोई तुम चैतन्य घन को ठोस पत्थर की भाँति भी कह सकता है। तथापि पत्थर में भी विकार है, स्पन्दन है, किन्त तुम्हारे अन्दर बिल्कुल स्पन्दन नहीं है, किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं है। अखण्डता तथा निर्विकारता, सम्पूर्ण मौन और सम्पूर्ण स्थिरता एकमात्र तुम्हारे स्वरूप में ही सम्भव है। तुम केवल चैतन्य से ही बने हुए हो तथा चैतन्य-स्वरूप एकमात्र तुम्हीं विराजमान हो। फिर जड़ क्या वस्तु है ? जड़ कहाँ ? जड़ आयेगा कहाँ से ? जड़ रहेगा कहाँ पर ? अकेले तुम्हीं सबको परिपूर्ण करके रहते हो ! ऊपर

चैतन्य स्वरूप तुम हो, नीचे चैतन्य स्वरूप तुम हो। भीतर चैतन्य तुम हो और बाहर भी चैतन्य मात्र तुम ही हो। चैतन्य पर चैतन्य है। चैतन्य केवल चैतन्य से ही बना हुआ है, चैतन्य केवल चैतन्य द्वारा ही परिपूर्ण है। केवल तुम हो, और केवल चैतन्य है ! जो कुछ देख रहे हो वह चैतन्य है, और जो कुछ नहीं देख रहे हो वह भी चैतन्य है। देख रहे हो चैतन्य को, चिन्तन कर रहे हो चैतन्य को। चैतन्य के बाहर (अतिरिक्त) कुछ है नहीं, चैतन्य के बाहर कहीं जाने का उपाय भी नहीं है ! एक चैतन्य, एक सीमाहीन अनन्त चैतन्य—एकमात्र चैतन्य स्वरूप परमात्मा तुम्हीं वर्तमान हो। तुम सदा ही अपने में रहो। चैतन्य चैतन्य में ही रहे। सारी जड़ता, जड़ता की स्मृति एवं सम्पूर्ण जड़ता के संस्कार चैतन्य में ही विलीन हो जावें, चैतन्य के अन्दर विलीन हो जावें।

श्री काशीधाम
२३-११-२३



५

ॐ

नारायणेषु !

तुच्छ से तुच्छ घटना होते ही राम को सूचना दो, श्याम के साथ परामर्श करो, यदु का उपदेश ग्रहण करो—इन सब व्यर्थ गम्भीर चेष्टाओं की क्या आवश्यकता है ? इन सब एवं अन्य सब व्यक्तियों की अपेक्षा भी वे (परमेश्वर),जो तुम्हारे तथा सबके आश्रय हैं, जो वास्तव में तुम्हारे मित्र चालक, एवं अध्यात्म—उपदेशक हैं, जिन्होंने घोषणा की है 'मोक्षयिष्यामि मा शुचः' वे तुम्हारे अधिक समीप रहते हैं। गान में सुना है—

"नाथ मिला लो निज परिकर में,
रहूँ न अब मैं मोह तिमिर में,
खाऊँ पहनूं सदा तुम्हारा,
वास करूँ बस तुम्हरे घर में।

श्रवणों में गुण गान तुम्हारा,
नहीं कुछ होगा मेरा मुझमें।"

धर्म के विषय में इससे उच्चतर और निम्नतर श्रेणी की कितनी ही बातें सुनी हैं, परन्तु उनमें से कितनी बातों का प्रभाव जीवन पर पड़ा है ? हम तो वेद तथा वेदान्त को कण्ठ से बोलते रहते हैं, ज्ञान तथा भक्ति की महिमा का प्रचार भी खूब करते हैं परन्तु जीवन के व्यापार में तो वस्तुत हम लोग थोड़े बहुत चार्वाक (नास्तिक) के ही अनुचर हैं। जगत् में नास्तिकता का राज्य सुप्रतिष्ठित है। डाक्टर और वकील, धनवान तथा बलवान व्यक्तियों से जब हम कुछ आशा करते हैं, तब विधाता से कितने योजन दूर हट जाते हैं ! साधु का वेश लिया है एवं मुक्ति की इच्छा भी रखते हैं; परन्तु धर्म प्राप्त करना तो दूर, यदि हम थोड़ा आस्तिक भी हो सके होते या थोड़ा सा आस्थावान भी हो सकते तो कुछ सार्थकता होती।

जब तक संसार है, तब तक कर्म रहेगा ही। येन केन प्रकारेण कर्म समूह को समाप्त करने की चेष्टा करते रहने से जीवन भार मात्र ही प्रतीत होगा। जगत दुःख-मय ही रहेगा, पाप का अन्त नहीं होगा और कर्म बन्धन बढ़ेगा, न कि कम होगा। इसी कारण से कुशलता पूर्वक कर्म करते हुए स्वच्छन्द स्थिति में विराजमान हो जाओ।

तुम्हारे पार्श्व में जो एक गुलाब का फूल दीख पड़ता है, उसे तुम जैसा देख रहे हो, सभी लोग ठीक उसी प्रकार नहीं देखते। एक ज्ञानी तथा एक भक्त, एक कवि तथा एक चित्रकार, एक रासायनिक तथा एक वनस्पति शास्त्रज्ञ

अपने अपने मन में उस एक ही गुलाब के फूल को भिन्न रूप में देखते हैं, एवं वह प्रत्येक में भिन्न-भिन्न भावना तथा धारणा उत्पन्न करता हैं। जिसकी जैसी दृष्टि है वह उसे वैसा ही देखता है। ऐनक की भिन्नता के कारण एक ही जगत विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न आकारों में प्रतीत होता है !

कल रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब तुम उस नर्तनशीला तरंग पर अनिमेष दृष्टि से देखते हुए खड़े थे, उस समय किसी युवक ने तुम्हारे पीछे से जाते हुए कहा था, "ओ मुग्ध ! इस प्रकार क्या देख रहे हो ? नदी प्रवाह के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? काल की भांति वह अपनी भावना में अविश्रान्त गति से चल रही हैं, तुम्हारे लिये क्षण भर भी खड़ी नहीं होगी। फिर तुम क्यों आत्म विभोर होकर उसके पास खड़े रहकर व्यर्थ समय व्यतीत करते हो ? व्यर्थ कौतुहल को छोड़कर कर्त्तव्य पर ध्यान दो।" युवक की वह बात मानों तुम्हारे कानों में ही न पड़ी। कुछ क्षण बीतने पर एक प्रौढ़ व्यक्ति ने आकर तुमसे कहा—"बच्चा ! जिस विचित्र विशाल ब्रह्माण्ड को तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, वह विभिन्न प्रकार के समवाय विशिष्ट एवं स्पन्दनशील कुछ परमाणुओं की समष्टि मात्र हैं। यदि अनुसन्धान (सूक्ष्म निरीक्षण) करके देखोगे तो वृक्ष तथा लता में, स्वर्ग तथा नरक में एवं सुन्दर और कुरूप में परमाणुओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलेगा। जिसे तुम कुछ विशेष वस्तु रूप से जानते हो, उसे मैं कुछ परमाणुओं की समष्टि रूप ही जानता हूं। भला, परमाणुओं में अच्छा बुरा क्या ? जैसे नदी के प्रवाह में तुम कुछ परमाणुओं को ही देख रहे हो, उसी प्रकार सर्वत्र परमाणुओं को ही देखो। अतः वहाँ खड़े रहकर क्यों दुःख उठा रहे हो ? घर लौटकर कल्याण मार्ग को ढूँढ़ो ?"

प्रौढ़ की बात पर भी तुमने ध्यान नहीं दिया ? थोड़ा समय व्यतीत होने पर नदी के स्रोत पर एक नौका-यात्री गाता हुआ चला जा रहा था—"है भूधर में,सलिल में, बन में वह (भगवान)।" गान की ध्वनि आकाश में विलीन हुई भी नहीं थी कि पीछे से एक वृद्ध ने हाथ से तुम्हारा सिर स्पर्श किया। ऊषा की वेला थी। उस वृद्ध ने कहा—'अरे जड़ बुद्धि ! क्या विद्या को केवल पुस्तक में ही बन्द रखोगे ? जेब से उपनिषद को निकाल कर देखो, जिसमें पहली पंक्ति में ही कहा है:—"ईशावास्यमिदं सर्वम्..........."। फिर भी देखो, उसी में लिखा हुआ हैं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" जो कुछ भी देखने में आवे उसे ज्योतिर्मय ब्रह्मरूप ही देखो। नदी में, नदी के नदीत्व को भूल जाओ। ब्रह्मत्व का ही दर्शन करो। ब्रह्म ही उन वस्तुओं के आकार में प्रतिभासित हो रहा है। ब्रह्म ही सब क्रिया रूप से प्रकाशित हो रहा हैं। प्रत्येक ही ब्रह्म है। एक ब्रह्म ही है, तो ब्रह्म के अतिरिक्त और क्या रहा ? नदी का प्रवाह ब्रह्म है, नदी का गर्भ ब्रह्म है, नदी का तट ब्रह्म है, तट पर स्थित अरण्यादि भी ब्रह्म है, ऊर्ध्व में पवन ब्रह्म है, उससे भी ऊपर आकाश ब्रह्म है, तुम्हारा शरीर मन जो कुछ हैं—सभी ब्रह्म है। एक अखण्ड व्यापक ब्रह्म ही विराजमान हैं एक सुवृहत् ब्रह्मसमुद्र, एक अचल अटल ब्रह्मरूप पर्वत अपने गाम्भीर्य वर्तमान में। इस ब्रह्म में सफेद या काला, बड़ा या छोटा, स्थूल या सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। एक शुद्ध समरस ब्रह्म ही देदीप्यमान हैं। जल तथा स्थल के रूप में और अच्छे तथा बुरे के रूप में एक समरस शुद्ध ब्रह्म ही विद्यमान है। एक समरस ब्रह्म, एक नित्य परिपूर्ण ब्रह्म, एक 'निराकारं निराधारं निरालम्बं निराश्रयं' ब्रह्म अपनी महिमा में स्वयं ही विराजमान है। ऊर्ध्व-अधः में, देश-देशान्तर में, वह एकरस चैतन्य समुद्र ही वर्तमान

है। 'अभ्यास योग–युक्तेन चेतसा नान्य गामिना' इन परम पुरुष के ध्यान में संलग्न रहकर ध्यान समुद्र में विषय दर्शन तथा विषय श्रवण को विलीन करके ब्रह्ममय बन जाओ। तृष्णा के वश अथवा विश्राम की आशा से, मोह के नशे से, लज्जा से, सुख के लालच से अथवा अन्य किसी कारणवश जब मन एवं इन्द्रियों से विषय संग करोगे, तो उसी समय तुम्हारी सञ्चित तपस्या नष्ट हो जायेगी। तपस्या से उपरत होना जितना हानिकारक है, भावना और कर्म में सामञ्जस्य (मेल) न रखना उससे भी अधिक हानिकारक है। यदि मुझे दृढ़ निश्चय है कि यह वृक्ष ही है, वृक्ष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तथापि साथ साथ व्यर्थ बोलता रहता हूं कि यह वृक्ष ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—तो ऐसा करने पर ब्रह्माभ्यास किसी काल में भी सफल नहीं होगा।"

इस विषय में कितने मनुष्य कितने ही विचार प्रकट करके चले गये। जिसकी जैसी ऐनक वह वैसा ही देखता है। ब्रेजिल पत्थर की ऐनक को फैंककर तुम चौदह पैसे की ऐनक से क्यों सन्तुष्ट होते हो? साधु तथा शास्त्र की सहायता से, तपस्या, सदाचरण तथा इन्द्रिय निग्रह के द्वारा सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करके संसार-सागर से पार हो जाओ। संग रहते हुए तपस्या नहीं होती। बिना वासना त्याग के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। 'अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष उदासीनो गत व्यथ:।" वर्तमान में यथा सम्भव नि:संग होकर वहां पर रहते हुए ही तपस्या करते रहो। 'ज्ञान नेत्रं समादाय चरेत् वह्नि मत: परम्'। सम्पूर्ण मौन रहकर तपस्या करो। मौन में, मौन में, मौन में ही मिलेगी गुप्त धनराशि! ॐ इति!

बीर, कांगड़ा
३१।५।२५

★

६

ॐ

नारायणेषु !

प्राणपण से तपस्या करते रहो ! स्वेच्छा से बन्द न करो। तुम्हारा ध्यान तथा जप तुम्हारी भावना एवं तुम्हारी तपस्या विश्वमय हो जाय। प्राण के स्पन्दन में और रुधिर के प्रवाह में तुम्हारी तपस्या ही नृत्य करे। शरीर का प्रत्येक परमाणु तुम्हारी तपस्या में सहायता दे। अस्थि-मज्जा में तुम्हारी तपस्या ही अंकित हो। तुम्हारा समूचा शरीर तपस्यामय बन जाय। देहरूप देवालय में क्या किसी अभक्त प्राणी का निवास उचित है ? तुम्हारा सम्पूर्ण शरीर तुम्हारी तपस्या में सहायता देकर तपस्यामय बन जाय।

और भी ध्यान रखो, केवल इस छोटे से शरीर को ही तपस्यामय बनाने से काम नहीं चलेगा। तुम्हारी तपस्या का प्रवाह नाचता हुआ वेग से चलता हुआ

सब दिशाओं में अनन्त को ही आलिंगन करे। आकाश तथा पवन में तुम्हारी तपस्या ध्वनित हो। जल-स्थल में तुम्हारी तपस्या ही देदीप्यमान रहे।

तुम्हारे मन्त्र की ध्वनि ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु से निकल कर एक महान् ध्वनि को उत्पन्न करे और उसमें अन्य सब ध्वनियाँ विलीन हो जायँ। तुम्हारी ध्येय वस्तु जल में, स्थल में, वृक्ष में, लता में, पुष्प में, तथा पत्र में—प्रत्येक परमाणु में अंकित होकर आत्म प्रचार करे। समग्र विश्व उस वस्तु में समाकर उसमें ही विलीन हो जाय।

भीतर तथा बाहर, समीप तथा दूर, एवं स्थूल तथा सूक्ष्म—सर्वत्र तुम्हारी तपस्या ही विराजमान हो! सभी तपस्यामय बन जाय। तुम्हारी तपस्या विश्वमय और विश्व तुम्हारी तपस्यामय;—तुम विश्वमय, और विश्व तुममय हो जाय। तुम विराट मूर्ति से, विश्व शरीर से निरन्तर तपस्या करते रहो। देखोगे—सर्वत्र ही तुम्हारी तपस्या है। देखोगे, केवल तुम्हारी तपस्या ही है। देखोगे, एकमात्र तपोमूर्ति तुम ही हो। एक विपुल विराट 'महतो महीयान' "नित्यः सर्वगतः स्थानुरचलोऽयं सनातनः।" तब .... परिपूर्णानन्दम्।

कागज भी समाप्त, लेख भी समाप्त।

शिवमस्तु,

श्रीनगर–काश्मीर!

१९-८-२४

७

ॐ

नारायणेषु !

अन्य सब को छोड़कर जो सदा एकमात्र भगवान का ही आश्रय लेकर रहते हैं, एकमात्र भगवान की सेवा पूजा में ही सदा तन-मन-धन को लगाकर रखते हैं, वे ही भक्तराज हैं तथा वे ही प्रणम्य हैं।

जो भगवान के अन्दर ही सबका एवं सबके अन्दर ही भगवान का दर्शन करते हैं, जो सर्वत्र सम-बुद्धि वाले हैं एवं सर्वभूतों के हित में लगे रहते हैं, वे ही भक्त-राज हैं। और वे ही प्रणम्य हैं !

जिनमें अपना पराया ऐसी भेद बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, जिनमें इच्छा, द्वेष और अभिमान का प्रवेश नहीं होता और जो सदा ही पवित्र तथा भगवान में चित्त लगाये रहते हैं, वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

सम्पत्ति या विपत्ति में जिनका मन भगवान को छोड़कर कभी अन्यत्र नहीं जाता तथा जो सदा सत्यनिष्ठ और सदाचार परायण हैं, वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

जो प्रपञ्च से पराङ् मुख (संसार से विमुख) तथा ज्ञान तृप्त हैं, जो सदा एकान्तसेवी तथा भगवत् परायण हैं वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

सर्वत्र भगवान का दर्शन करके जो अभय हुए हैं; तथा दूसरे को भी अभय प्रदान करते हैं, जो उदासीन और कर्मकुशल हैं, वे ही भक्तराज हैं तथा वे ही प्रणम्य हैं।

प्रेममय का सर्वत्र दर्शन करके तथा एकमात्र प्रेम के ही आश्रय से जो सारी संकीर्णताओं से अतीत हुए हैं तथा जिनके मधुमय हृदय की प्रेम गंगा सारे विश्व को प्लावित किये हुए है, वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

जो सदा चातक की नाईं एकनिष्ठ हैं, लक्ष्मण की भाँति स्वतंत्रता से रहित हैं एवं सदा द्वन्द्वातीत और सन्तुष्ट चित्त रहते हैं, वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

जो भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानते, जो भगवान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं चाहते और जो सदा स्थिर तथा संयत रहते हैं, वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

जो भगवान में आत्म समर्पण करते हैं, भगवान ही जिनके प्रियतम, आत्मरूप और एकमात्र सत्यवस्तु हैं, वे ही भक्तराज हैं और वे ही प्रणम्य हैं।

जो भगवान को जागृत तथा जीवन्तरूप से अनुभव करते हैं, और भगवान के संग में ही जिनका समय व्यतीत होता है, वे ही भक्तराज हैं। और वे ही प्रणम्य हैं।

ऐसे भक्तराज का दर्शन करके उन्हे प्रणाम करके औरउनकी सेवा करके जीवन धन्य करो। ऐसे भक्तराज के जीवनालोक से, कृपा बल से तुम भी भक्तबनो, प्रेमी बनो और आप्त काम बनो !

जगत् में भक्ति की कोई उपमा नहीं है। भक्त का हृदय ही भगवान का विलास-निकेतन है. भक्त के अन्दरसे ही भगवानका स्वरूप तथा महिमा प्रकाशित एवं प्रकटित होते हैं। भक्त को छोड़कर तुम किसका संग करोगे ?

भक्त सम्पद्, सिद्ध, कैवल्य, कुछ भी नहीं चाहते। वे अपने सर्वस्व को दान कर देना चाहते हैं, और अपने को सम्पूर्ण तया भगवान में ही विलीन करना चाहते हैं। वास्तव में भगवान पर निर्भर रहना, भगवान् में आत्मसमर्पण करना ही सबसे श्रेष्ठ साधना है। यही परम सौभाग्य और परम पुरुषार्थ है।

मनुष्य जो कुछ चाहता है उससे अधिक उसे कुछ भी नहीं मिलता; परन्तु जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे सारी प्राप्तव्य वस्तुयें मिल जाती हैं एवं साथ ही प्रेममयी विश्व-जननी को भी प्राप्त कर लेता है। उनकी कृपाका ही बल है, उनकी कृपा ही सम्बल है, उनकी कृपा को प्राप्त करने की चेष्टा ही कर्म में निपुणता है। "ब्रह्म कृपाहि केवलम्।" "धनं मदीयं तव पाद पङ्कजम्"। आज इतना ही। भगवान् तुम सबका मंगल करें।

स्वर्गाश्रम

८

ॐ

नारायणेषु !

अपने को क्षुद्र समझने से ही क्षुद्र होता है। क्षुद्रता का त्याग करना ही होगा; उसे बलपूर्वक छोड़ना ही होगा। भगवान का आदेश है—"क्लैव्यं मास्म गमः—इत्यादि।" एक अंग्रेजी पुस्तक में पढ़ा है—"Before the eyes can see, They must be incapable of tears" अर्थात् "आँखों से देखने से पहिले उनको आँसुओं से मुक्त करना होगा।"

द्वैतभाव ही क्षुद्रत्व है। 'मेरी उन्नति होती हैं या नहीं' 'मेरा अच्छा या बुरा प्रारब्ध चल रहा है।' 'मेरी तपस्या में अमुक-अमुक विघ्न उत्पन्न होते हैं।' 'अच्छा, अबसे भली-भाँति तपस्या करूँगा' 'क्या करने से कल्याण

होगा।' इत्यादि जो कुछ संकल्प-विकल्प हैं सभी द्वैत हैं। कभी कभी अद्वैत को सहायता देने वाले बन्धु रूप से या कभी अद्वैत के आकार में द्वैत ही साधक को मुग्ध करता है। सावधान रहना होगा जिससे किसी प्रकार का द्वैत मन में न उठे। सदा ब्रह्म भावना में मग्न रहना ही वेदान्तिक साधक का कर्त्तव्य है। अन्तर्मुख स्थिति में मन की जो ब्रह्माकार—भावना या वृत्ति होती है, उसे ही मन्त्र रूप जानना, क्योंकि वही मन की रक्षा कर सकती है। उसी मन्त्र का प्रवाह अखण्ड होना आवश्यक है। मन के साथ-साथ मन्त्र प्राण में प्रवाहित होगा, रुधिर में चलेगा, एवं परमाणु पुञ्ज में नाचेगा ! देह और मन मन्त्रमय हो जायेंगे, आहार-विहार मन्त्रमय हो उठेगा। अन्यभाव अन्य बात, तथा अन्य शब्द नहीं रहेंगे। यदि कोई शब्द होगा तो वह ब्रह्म का वाचक ही होगा, अन्य अर्थ वाचक नहीं। यदि कोई दृश्य भासेगा तो उसमें ब्रह्मदर्शन ही होगा, और कुछ भी नहीं।

जो कुछ लिखा यह सब केवल उपायमात्र है। जो उद्देश्य या ध्येय है वह तो केवल बोधगम्य है !

बोलने का या सुनने का तुम्हें अवसर ही कहाँ है ? आवश्यकता भी क्या ?

कर्म में लगे रहो। भयभीत न बनो। पीछे मत हटो। दीर्घ श्वांस मत छोड़ो। उत्साह तथा उद्यम के साथ कार्य में लगे रहो। इस साधन में फलाकांक्षा नहीं है, क्योंकि फलाकांक्षा ही द्वैत भाव, क्षुद्रता या दीनता है। फलाकांक्षा कौन करेगा ? कभी भी नीचे मत उतरना।

श्रीनगर, काश्मीर शिवमस्तु ! इति।

२-९-२४

★

९

ॐ

बुद्धिहीन शिव ठाकुर के सम्पर्क में आकर सती को कितने कष्ट नहीं उठाने पड़े थे ! ठाकुर स्वयं रहते थे सात मंजिल ऊपर—रात दिन भांग और धतूरे के नशे में चूर होकर, और सती, को रखा था पहिली मंजिल पर एक अन्धेरी कोठरी में। सती हिन्दु की कुल वधु सती, बूढ़े का एक आलोक चित्र लेकर अपने छोटे से त्रिकोण घर में ही मौन होकर पड़ी रहती थी। परन्तु कितने समय तक इस तरह रहा जाय ? अत्यन्त पति परायणा-सती ठाकुर को देखने के लिये व्याकुल हो उठी। ऊपर चढ़ने के लिये जो सीढ़ी थी वह एक तो लम्बी थी फिर बहुत अन्धेरी भी। इसके अतिरिक्त बहुत काल तक उसका उपयोग न होने से मैली भी हो गई थी। सती-साध्वी उस फिसलने वाली सीढ़ी पर ही चढ़ने लगी। परन्तु उस सीढ़ी से सातवीं मंजिल पर चढ़ना एक कठिन, व्यापार था। कितनी

बार फिसल कर नीचे गिरने लगी, ठोकरें लगकर कितने ही घाव भी हुए; मकड़ी का जाला शरीर पर लिपटने लगा और कभी चलते हुए पैर में दर्द होने से बैठ कर या खड़े रह कर विश्राम करना पड़ा। पथ मानो समाप्त ही नहीं होता था। कभी सोचती थी 'वापिस लौट जाऊं' फिर उसी समय सती-धर्म ने पीछे वापिस लौटने में बाधा दी। वह धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगी। जितना ही ऊपर चढ़ी, उतना ही मानो पथ भी सुगम मालूम होने लगा। बहुत कष्ट का सामना करके बहुत धैर्य तथा पुरुषार्थ के बल से अन्त में सातवीं मंजिल तक जा पहुंची। वहाँ पर पति को देखते ही उसे कितना आनन्द मिला! परन्तु क्या उस बूढ़े आदमी में कुछ भी दया या शिष्टाचार था? उसमें न तो थी स्नेह-ममता और न थी विचार-विवेचना। सती को देखने मात्र से उसे इतनी जोर से भगाया कि जाने कैसे वह बेचारी एक क्षण में ही अपनी पहली मंजिल के घर में जा पहुँची। यदि तुम-हम होते तो ऐसे पति के शरीर पर राख डालकर मौन होकर बैठे रहते। परन्तु सती ने प्राणों की बाजी लगाई—पति का प्रेम अवश्य प्राप्त करेगी। वह सीढ़ी से चढ़ कर फिर सातवीं मंजिल पर पहुँची। किन्तु उसे फिर उतरना पड़ा। फिर चढ़ी, फिर उतरी। इस प्रकार प्रयत्न चलने लगा। जितना अधिक चढ़ना-उतरना चलने लगा, उतना ही सातवीं मंजिल पर अधिक-अधिक समय रहने लगी और सीढ़ी पर चढ़ने-उतरने की भी अभ्यस्त हो गई। अन्त में ऐसा हुआ कि चढ़ने में भी अधिक कष्ट मालूम नहीं होता था, और शिव ठाकुर भी जल्दी-जल्दी भगाते न थे। क्रमशः आपस में मानो प्रेम भी उत्पन्न होने लगा। इस बीच में सती ने ऊपर चढ़ने के लिए अन्य सुगम उपाय भी निकाल लिया। सातवीं मंजिल से

पहली मंजिल तक एक रस्सी का टुकड़ा लटका दिया। उसे पकड़ कर वह चढ़ती-उतरती थी। राजा की लड़की है न ? बहुत रुपये खर्च करके अमेरिका से एक स्प्रिंग की सीढ़ी मंगा कर भी लगा ली। उसके द्वारा पहली मंजिल से एकदम सातवीं मंजिल पर जा सकती थी। उस समय सती अपनी इच्छानुसार कभी इस मार्ग से, कभी उस मार्ग से बूढ़े के पास आना,-जाना करती थी। बूढ़े को भी उस समय 'वृद्धस्य तरुणी भार्या'— सती प्राणों के समान प्यारी हो गई। तब तो कितनी ही बात-चीत और कितने ही आमोद-प्रमोद आपस में होने लगे। कितने ही दिनों तक ऐसा हुआ कि सती बूढ़े से ज्ञान, भक्ति, इतिहास, भूगोल, शिल्प, विज्ञान, चिकित्सा और नीति-शास्त्र की कितनी ही बातें पूछती रही और बूढे भी सभी प्रश्नों के उचित उत्तर देते रहे। सती कुछ नीचे उतर कर डायरी में लिख लेती। कालान्तर में उसे ही छपवा कर वेद-वेदान्त, पुराण, तन्त्र इन सब नामों से उनका प्रचार किया। एक बात कहने से रह गई। बूढ़ा सद्गुण की कीमत जानता था कि नहीं; सती जब पहली बार सातवीं मंजिल पर चढ़ी थी, तब से बीच की किसी-किसी मंजिल पर रह सकती थी। अन्त समय में प्रायः पाँचवी तथा छठी मंजिल पर बूढ़े के समीप ही बहुत समय व्यतीत करती। और जब उसकी इच्छा होती किसी भी कमरे में जाकर रह सकती थी।[1]

---

१. यह रूपक षट-चक्र भेदन के विषय में लिखा गया है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति की सती के साथ तुलना या उपमा की गई है और अज्ञान दशा में वह मूलाधार चक्र में रहने से, वही अंधेरी कोठरी है। सुप्त कुण्डलिनी जागृत होने पर ऊपर की ओर जाती है। उसके सहस्रार में परम शिव

के साथ मिलने की चेष्टा का ही इस रूप से वर्णन किया गया गया है। भिन्न-भिन्न चक्रों का भेदन करके सहस्रार में जाना बहुत यत्न साध्य तथा कष्टसाध्य है। यह भी इससे सूचित (किया गया) होता है। प्रथम साक्षात्कार के पश्चात् कुण्डलिनी को फिर मूलाधार में ही वापिस लौटना पड़ता है और फिर प्रयत्न से सहस्रार में जाना पड़ता है। यह भी इस रूपक द्वारा दिखाया गया है। अन्त में जीवन्मुक्ति दशा में वह अधोचक्र में न रहकर ऊर्ध्व चक्र में ही रहती है और इसी कारण से जीवन्मुक्त को चेष्टा सत्वमयी होती है यह बात स्पष्ट की है।

१०

ॐ

तुम असीम होकर भी जिसकी शक्ति के प्रभाव से क्षुद्रत्व को प्राप्त हो देह गुणों के भीतर ही बँध जाते हो, उसी अविद्या से युक्त होकर (तुमने) आत्मा की स्थिरता तथा आनन्द आलस्य और आराम-प्रियता की सृष्टि की है। इन दोनों महा पापों से ही अन्य समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। आलसी मनुष्य अपने आलस्य दोष से केवल स्वयं हो हानि नहीं उठाता, बल्कि उसका आलस्य समाज तथा जगत् को भी बहुत हानि पहुँचाता है। जब तक तुम इस दोष से मुक्त नहीं होगे तब तक चाहे कितने विद्वान बनो या तपस्वी, पूर्णता तुमसे बहुत दूर ही रहेगी।

"निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः" निर्दोषता हो ब्रह्मत्व है। निर्दोषता ही ब्राह्मणत्व है कर्म करने में स्वाभाविक अनिच्छा तथा आरामप्रियता के कारण

एवं स्वार्थपरता तथा भोगाकांक्षा के कारण, जब समाज मुग्धचित्त लुप्तबुद्धि (बुद्धिहीन) इन्द्रियों की शक्ति से हीन, हीनवीर्य, असत् तथा अनुदार बन जाता हैं। तभी क्रमशः क्षत्रिय शक्ति, वैश्य शक्ति एवं शूद्र शक्तियाँ प्रकट होती हैं। जिस समय ब्राह्मणों का आधिक्य होता है वही सत्ययुग हैं, जिस काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय का आधिक्य होता है वही त्रेतायुग है, जब क्षत्रिय-वैश्य अधिक होते हैं तभी द्वापर युग होता है एवं जब वैश्य-शूद्र की अधिकता होती है तभी कलियुग होता है। जहाँ शुद्ध सत्त्व की अधिकता हैं वहाँ ही ब्राह्मण तथा सत्ययुग है। जहाँ सत्व-रजोगुण का आधिक्य है, वहाँ ही क्षत्रियत्व तथा त्रेतायुग है। जहाँ रज-तमोगुण का आधिक्य है—वहाँ ही वैश्यत्व तथा द्वापर युग है और जहाँ केवल तमोगुण का आधिक्य है—वहाँ ही शूद्रत्व तथा कलियुग है। इस प्रकार गुणदोषों की भिन्नता के अनुसार चारवर्ण एवं चार युग सदा ही वर्तमान रहते हैं। सदा सत्ययुग में ही रहने के लिये, सदा ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिये और सम्पूर्ण निर्दोष होने के लिये ही चेष्टा करो। जितना अधिक निर्दोष होंगे, उतना ही निर्दोष होना सुगम हो जायेगा। अन्त में इतना निर्दोष हो जाओगे कि तुम्हारे लिये सामान्य दोषयुक्त कर्म करना भी असम्भव हो जायेगा। वास्तविक पवित्रता जब सहज और स्वाभाविक हो जाती है, तथा स्वप्न में भी जब कोई दोष नहीं भासता तभी ठीक-ठीक निर्दोष कहा जाता है। इस प्रकार निर्दोषता प्राप्ति के लिये सदैव कुचिन्ता, कुसंग और कुकर्मों का परित्याग करना चाहिये। सदा ही निर्दोष चिन्तन तथा निर्दोष कर्म में लगे रहना चाहिये। आलस्य तथा आरामप्रियता को छोड़कर कर्त्तव्य कर्मों को विधिपूर्वक एवं भलीभांति सम्पन्न करना चाहिये। जैसे शराबी का संग शराबी को ही प्रिय

लगता है, संयत व्यक्ति को तो वह अप्रिय ही लगता है, वैसे ही तुम्हारी देह की स्थिति तुम्हारे भावों के अनुकूल परमाणुओं को ही प्रिय होती हैं। उसके प्रतिकूल परमाणुओं को नहीं। यदि तुम निरन्तर सत्कर्म और सच्चिन्तन में नियुक्त रहो तो तुम्हारे देह और मन के सब दूषित परमाणु तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे एवं सात्विक परमाणु उनके स्थान पर अधिकार करेंगे। जो विशुद्ध तथा कल्याणकारक भाव-तरंगें आकाश एवं वायुमण्डल को प्लावित करके प्रवाहित हो रही हैं तथा अहैतुक कृपासागर के जो विश्व पावन करुणापुञ्ज हमारे कल्याण के लिये सदा ही हमारे द्वार पर उपस्थित रहते हैं, उन सबकी सहायता, निर्दोषता की वृद्धि के साथ-साथ तुम्हें क्रमशः अधिक से अधिक प्राप्त होती रहेगी। साधारणतया बारह वर्ष तक निर्दोषता का निरन्तर अभ्यास करने पर मनुष्य स्वभावतः निर्दोष बन जाता है। जब निरन्तर अभ्यास के बल से मनुष्य निर्दोषता में दृढ़ हो जाता है तब वह विधि-निषेध की कृत्रिम सीमा को सर्वथा उल्लंघन कर लेता है। "परमहंस विधि-निषेध से अतीत है"— इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि वे न्यायविगर्हित कर्म करें तब भी उनकी उपेक्षा करनी होगी। इसका सार अर्थ यह है कि उनसे अन्याय कर्म कभी हो ही नहीं सकता। उनके देह और मन ऐसे हो जाते हैं कि वे जो शुभ पवित्र और कल्याण-कारक कर्म है, उन्हीं को स्वयं सहज-स्वभाव से सुगमता पूर्वक करते रहते हैं। "उनके पैर बेताल नहीं पड़ते।" यदि तुम्हें मालूम है कि किसी परमहंस का आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, तो समझना होगा कि वह व्यक्ति सच्चा परमहंस नहीं है। अथवा तुम शास्त्र वाक्यों के अर्थ को ठीक-ठीक नहीं समझ सके हो। वास्तव में शास्त्र-सागर के गुह्य तत्वों को महापुरुषों के

जीवनालोक की सहायता से ही समझने की चेष्टा करनी चाहिये। उनका जीवन ही वेद तथा पुराण, और उनका जीवन ही स्मृति शास्त्र तथा मन्त्र (तन्त्र) हैं। युधिष्ठिर ने कहा था "मैंने कभी भी कोई अन्याय कर्म नहीं किया, और मेरे मुंह से कभी कोई असंगत वाक्य नहीं निकला, अतः इस समय मेरे मुँह से जो वाक्य निकला है वह कभी भी अवैध (शास्त्र-विरुद्ध) नहीं हो सकता हैं।"

जो सच्चे साधु हैं तथा जो संयत और कर्तव्यनिष्ठ हैं, उनके लिये नियम की आवश्यकता नहीं है। जो उच्छृङ्खल हैं और जिनमें दोष हैं उनके लिये ही नियम का बन्धन है। इस बन्धन को स्वीकार करके ही बन्धन के पार जाना होगा, एवं नियम को मानकर ही नियमों से अतीत हो सकेंगे। नियम को मानना होगा। बुद्धि को तीक्ष्ण करना होगा और आलस्य को दूर करना होगा। आलसी मस्तिष्क शैतान का कारखाना है—इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये। आराम-प्रियता ही सारे दोषों को उत्पन्न करती है—यह भी नहीं भूलना चाहिये। कर्त्तव्य के कठिन मार्ग पर सदा ही सत्य और सरलता, प्रेम और पवित्रता, विवेक और वैराग्य, उत्साह और उद्यम, धैर्य और तितिक्षा, स्वार्थहीनता और परार्थपरता एवं दक्षता और श्रमशीलता—इन सभी गुणों की आवश्यकता है। और भी आवश्यक है, अत्यन्त आवश्यक है, भगवत्-कृपा पर निर्भर करना, भगवान् की ओर सदा लक्ष्य रखना और भगवत् प्रीति के लिये जीवन व्यतीत करना।

शिवमस्तु।

ऋषिकेश

११

ॐ

नारायणेषु !

तपस्या में नियमपूर्वक विकास स्वत: ही होता है। यदि ऐसा न हो तो सूचना देना। "येषां साम्येस्थितं मन:"—एक बात है यह जो अविद्या या माया है उसे जब अपेक्षाकृत स्थूल दृष्टि से देखता हूं, तब ऐसा विचार होता है कि मानो वह शब्द के वाहन या आसन पर चढ़कर ही अभिनय करती है। "मैं, तुम, वहाँ, मेरा, तुम्हारा, उसका, सुन्दर, कुरूप तथा साधारण रूपवाला, छोटा, बड़ा, तथा मध्यम परिमाणवाला, इसे मैं चाहता हूं, वह उसके पूर्वजों की सम्पत्ति है, तुम्हें वहाँ जाना ही पड़ेगा"—इस प्रकार के जितने शब्द मन में उठते हैं, वे सब केवल अविद्या ही हैं। यदि वे शब्द मन में जागृत न हों, तो अविद्या की क्रीड़ा किस प्रकार होगी ? इसी कारण सम्भवत: अविद्या की सीमा के बाहर या मौन के राज्य में जाने के लिये उत्तम अधिकारी के प्रति शास्त्र का

उपदेश है—"अन्या वाचो विमुञ्चथ" (दूसरा वाक्य मत बोलो) इत्यादि।

यह वाक्य केवल मुंह का नहीं, मन का भी होना चाहिये। वस्तुतः वाक्य तो मन का ही होता है, मुंह से तो उसका प्रकाश मात्र होता है। मन स्पन्दनमय तथा वाक्यमय होकर ही रहता है। उस मन के वाक्य या उसकी हलचल को बन्द कर सकने से ही, सम्भवतः अविद्या के मार्ग पर रुकावट डाली जा सकती है। मन को कल्पना शून्य करने की चेष्टा भी इसी प्रकार होती है।

दूसरा मार्ग भी है, मनुष्य वाक्य की सहायता से भी वाक्यातीत तथा मायातीत हो सकता है उस मार्ग पर चलने के लिये जप, अक्षर की धारणा और प्राणायामादि की व्यवस्थायें हैं। वाक्य की सीमा (हद-बन्दी) से बाहर जाने के लिये भी पहले वाक्य की सहायता अत्यन्त आवश्यक होती है।

वाक्य राशि के तत्वचिन्तन द्वारा भी वाक्य की परिसमाप्ति होती है। इस मार्ग को छोड़ देने से ही आजकल बहुत वाधायें उत्पन्न हुई हैं।

परन्तु ये सभी मार्ग तुम्हारे लिये आवश्यक नहीं हैं। केवल इनका उल्लेख कर दिया है, और वह भी बड़े संक्षेप से किया है। इन सब विषयों में बहुत रहस्य है। जिसका अन्तरहृदय जागृत होता है, वही उनकी ठीक-ठीक धारणा कर सकता है। आज इतनी ही।

शिवमस्तु! इति!

ऋषिकेश
१०-११-२४

१२

ॐ

नारायणेषु !

आपने एक पत्र लिखने का जो आदेश दिया है उसे मैं सिर पर धारण करता हूं। भगवत्-प्रसङ्ग का जो पवित्र सुयोग आपने मुझे प्रदान किया है, उससे आपकी महती करुणा ही प्रकट हुई है। मानवरूपी शब्द-यन्त्रों से सदा ही अनेक प्रकार की ध्वनियाँ निकलती रहती हैं। मनुष्य जितनी बातें करते हैं, संभवतः उतना और कोई काम नहीं करते। किन्तु उन शब्द राशियों में से प्रयोजनीय शब्द कितने थोड़े होते हैं। जिन वाक्यों से हृदय में सत्वगुण की वृद्धि होती है, ज्ञान-भक्ति बढ़ती है, मन-प्राण शान्त हो जाते हैं, ऐसे शब्द हम लोग दिन में कितने बोलते हैं ? जिन बातों से कुसंस्कारों का वेग बढ़ता है, थोड़े समय के लिये तुच्छ मधुरता का आस्वादन होता है और संसार-बन्धन सुदृढ़ होता है, उन्हीं बातों में तो

हम लोग रात-दिन मग्न रहते हैं। मनुष्य अच्छी बातें पुण्यप्रद वार्त्तालाप और भगवत्चर्चा नहीं करते, न करना जानते हैं, और न करना चाहते ही हैं। अत: यदि किसी की प्रेरणा से औषधि-सेवन के समान भगवत्-चर्चा होती है, तो वह प्रेरक अवश्य ही धन्यवाद के योग्य है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं है। इस मायामय संसार में यदि कुछ करने योग्य है तो वह एकमात्र भगवत्-स्मरण ही है; और यदि कुछ बोलने या सुनने योग्य है तो वह एकमात्र भगवत्-प्रसङ्ग ही हैं।

असंख्य विश्व ब्रह्माण्ड जिनकी इच्छा से धारण किये हुए हैं, ईश्वरगण सिर नवाकर जिनका आदेश पालन करने के लिये बाध्य होते हैं, उन्हें छोड़कर और किसकी चर्चा करूँ ? जिनकी इच्छा से यह देहयन्त्र चल रहा है, जिनकी इच्छा से जीवन धारण किये हुए हूं, जिनकी कृपा से थोड़ी-सी शुभबुद्धि मिली है, और जिनकी करुणा से उन्हें प्राप्त करने की आशा भी रखता हूं उन्हें छोड़कर और किसकी चर्चा करूँ। संसार सागर में जो हमारे एकमात्र पाथेय और अवलम्बन हैं, जिनकी दया के विना शान्ति प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है, उन्हें छोड़कर किसकी बातों में समय व्यतीत करूँ? जिन्हें छोड़कर क्षणमात्र भी नहीं रह सकता, जो मेरे स्वरूप तथा पूर्णत्व हैं, जो एकमात्र पूर्णतृप्ति स्वरूप हैं, उन्हें छोड़कर, किसकी चर्चा करूँ ? जिन्हें जानने से सभी जाना जाता है, जिन्हें प्राप्त करने से सभी प्राप्त हो जाता है, जिन्हें प्राप्त न करने से अशान्ति का दावानल नहीं बुझता, उन्हें छोड़कर और किसकी चर्चा में समय व्यतीत किया जाय ? विषयों की चर्चा करते हुए, विषयों की बातों पर ध्यान देते हुए, और वैषयिक कर्मों में मग्न रहते हुए यदि भगवान् को भूल जाता हूं तो

उन्हें (भगवान् को) छोड़कर वैषयिक प्रसंगों में क्यों समय व्यतीत करूँ ? जिनको योगाभ्यास करने की सामर्थ्य नहीं है, जिन्हें ज्ञान का अधिकार नहीं है, तथा जिनके पास भक्ति का सम्बल नहीं है—ऐसे हम लोगों के लिये भगवत्-प्रसंग के अतिरिक्त और क्या उपाय है ?

भगवत्-प्रसंग में ही देह-मन की सफलता तथा जीवन की सार्थकता है और भगवत्-प्रसंग ही श्रेष्ठतम पुरुषार्थ हैं। केवल उनकी कथा कहते हुए उनमें अनुराग उत्पन्न होगा, उनकी कथा सुनते हुए तत्वज्ञान का उदय होगा, उनकी कथा स्मरण करते हुए उनमें प्रवेश होगा, एवं उनकी बातों पर निरन्तर ध्यान करते हुए, वे—एकमात्र वे ही सब देश तथा काल को व्याप्त करके विराजमान होंगे। उस समय हृदय मधुमय होगा, जगत् मधुमय होगा तथा प्रत्येक परमाणु मधु संचार करेगा। उस समय विश्वमय वे, विश्वाधार वे, विश्व मन्दिर में लीला से विराजमान होकर प्रत्येक परमाणु के अन्दर से, प्रत्येक झरोखे से अपना मुस्कराता हुआ मुख निकाल कर कितनी बातें बोलेंगे, कितनी लीला करेंगे और कितना अमृत वितरण करेंगे ? तब जगत् में जड़त्व नहीं रहेगा, मोह पास नहीं फटकेगा और अविद्या प्रवेश नहीं कर सकेगी तब, और तभी केवल वे "सच्चिदेकं ब्रह्म" रहेंगे। अतः ज्ञान नेत्रों से सदा सर्वत्र उनका दर्शन करके उनमें ही विलीन होना होगा। इस समय (अविद्या दशा) में जैसे हम सोच रहे हैं कि—सर्व व्यापी वह परमात्मा प्रकृति के आवरण में छिपकर हमारे भ्रान्त नेत्रों की ओट में विराजमान है, वैसे ही ज्ञान नेत्रों के द्वारा तमसाच्छन्न ब्रह्माण्ड को उनमें विलीन करके केवल उनका ही दर्शन करना होगा। जैसे उनमें विकार नहीं है, वैसे ही सर्वत्र

ब्रह्मदर्शी की तपस्या में भी विराम नहीं है। इस प्रकार से तपस्या करते हुए सदा ब्रह्म स्मरण करते हुए हमारे अस्थि-मज्जा ब्रह्ममय होंगे, देह मन ब्रह्ममय होंगे, आकाश पवन ब्रह्ममय होंगे तथा अन्त में एक ब्रह्म ही महानन्द में विराजमान रहेंगे। यह जो अनमोल सुयोग, अमृत-कुण्ड पर पहुँचने के लिये यह जो अमोघ उपाय मिला हैं, इसे किस तुच्छ प्रलोभन से छोड़ूंगा ? आइये, हम सब अब और समय नष्ट न करके तथा जीवन को नष्ट न करके इसी क्षण से अपने सब कर्म और सारी चिन्ताओं को छोड़कर उन्हें ही स्मरण करते रहें एवं पूर्णतया उनमें ही तन्मय हो जायें।

ॐ इति

शिवालय-ऋषिकेश

१७-५-२७

१३

ॐ

नारायणेषु !

निद्रा एवं तन्द्रा, आलस्य एवं विक्षेप, संशय और सन्देह, ये सभी साधना की उन्नति में बाधक हैं। साधक श्रद्धा, भक्ति, इच्छा उत्साह धैर्य तथा अध्यवसाय के बल से प्रयत्न करते हुए इन सब विघ्नरूप नदियों को पार कर लेता है। यह जो अन्तराय या विघ्न समूह प्रतीत होते हैं, वे रजोगुण एवं तमोगुण के ही पृथक्-पृथक् प्रकाश मात्र हैं। सत्वगुण की वृद्धि के द्वारा जब साधक रजोगुण-तमोगुण को दबा सकता है, तभी वे लुप्त हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न से सात्विक होने की चेष्टा करनी चाहिये। भोजन में, निद्रा में, वेष भूषा में, आचार में, व्यवहार में, कर्म में और चिन्तन में, सदा सर्वदा सात्विक होना चाहिये। ठीक समय पर सात्विक मिताहार, परिमित निद्रा तथा व्यायाम, शरीर-मन-वस्त्र एवं गृहादिकों की पवित्रता, सदाचार, सच्चिन्तन, तपस्या, इन्द्रिय-संयम,

विधिवत् कर्त्तव्य पालन, विधिहीन कर्म तथा कुच्चिन्तन का त्याग, और कुसंगादि से बचना इन सबके द्वारा सत्वगुण बढ़-कर विघ्नों का नाश होता है। विवेक, वैराग्य, ध्यान और भक्ति के अभ्यास से ही विघ्न दूर हो जाते हैं। भगवान के लिये जिनके प्राण व्याकुल हैं, जो प्रेममय प्रभु के विरह से संसार को विषमय-अग्निमय अनुभव कर रहे हैं, निद्रा उनके समीप भी नहीं आ सकती। जब साधक एकाग्र चित्त से ध्याननिष्ठ होता है, तब निद्रा उससे दूर भाग जाती है। जिन्होंने वैराग्य का कवच पहना है, भय और विक्षेप उनसे दूर रहते हैं। भक्ति और निर्भरता ही जिनकी सम्पत्ति है, उनके समीप सन्देह और अविश्वास कभी नहीं आ सकते। जिन्होंने भक्ति और विवेक प्राप्त किया है, उनके आस-पास भी आलस्य पैर नहीं रख सकता। जो विधि पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करते रहते हैं उन्हें निद्रा और आलस्य अवश्य ही त्याग देंगे। जो सदा साव-धान एवं उन्नति के इच्छुक हैं, उनसे विघ्न की अवश्य पराजय होगी। आप सतर्क होकर तपस्या में लगे रहिये। ये विघ्न आपको अधिक समय दुःख नहीं दे सकेंगे। तपस्या के समय कोई भी मूर्ति आपके चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने की चेष्टा करे, आप उसे ही अपने इष्टदेव का स्वरूप समझना। ऐसा चिन्तन करना कि मानों महाशक्ति विश्वजननी इसी रूप में मेरे नयनों के सामने प्रत्यक्ष प्रकट हुईं हैं। किसी शब्द की कल्पना मन में जागृत हो या पुनः पुनः कोई शब्द सुनने में आवे, तो सोचना इसमें माता का नामोच्चारण हो रहा है। प्रत्येक घटना में माँ महाशक्ति का ही दर्शन करने की चेष्टा करना। इस प्रकार साधना के फलस्वरूप ऐसी उपलब्धि होती है, कि विश्व के समस्त रूप ही उनके रूप हैं, सारे शब्द ही उनके नाम हैं

एवं सब कर्म ही उनकी आनन्द-लीला हैं। इस प्रकार अभ्यास तथा उपलब्धि के फलस्वरूप चित्तरूप-बानर शान्त हो जायेगा। जब जिस प्रकार के विघ्न आयें विचारपूर्वक उनका निश्चय करने पर, उस प्रकारके विक्षेप क्रमशः कम हो जायेंगे। जो भाग्यवान साधक भगवान पर निर्भर कर सकते हैं, जो मन वाणी से कह सकते हैं—"तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, हे करुणामय स्वामिन्" उनको फिर कुछ भी भय नहीं रहता। वह तो पूर्ण शान्ति से विश्वजननी की गोद में बैठे रहेंगे। कोई-कोई साधक पहले-पहले (आरम्भ में) चिन्तन करते हैं—"त्वया हृषिकेशः हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।" और कहते रहते हैं कि—

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥"

आज इतना ही। यदि आप और भी कुछ न कर सकें, तो केवल माता के नाम को पकड़े रहें। उनके नाम के बल से वीर भक्त सर्वत्र ही अभय को प्राप्त होता है। जिसकी नाम में रुचि उत्पन्न हुई है, वह अन्य कुछ भी नहीं चाहता। "जो तीनों सन्ध्याओं में काली बोलता है, क्या वह कोई अन्य सन्ध्या, पूजा करना चाहता है ?" वह कुछ भी नहीं चाहता। केवल चाहता है—नमोच्चारण करना, नामामृत में डूबना और उसमें डूब कर अपने को खो देना।

ॐ इति।

स्वर्गाश्रम
२-१-१४

१४

ॐ

ब्रह्म = सत् + चित् + आनन्द ।
कृष्ण = सत् + चित् + आनन्द ।
एकनाम + एकरूप ।

जब तक नाम रूप में या नामरूपात्मक जगत् में आसक्ति है, तब तक ब्रह्म की अपेक्षा कृष्ण, शिव या दुर्गा—इनमें से कोई एक अधिक मधुर मालूम होगा, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं हैं। जब तक हम देहात्मवादी हैं एवं जब तक देह के सौन्दर्य तथा सुख के अनुगामी हैं, तब तक हम भगवान् को भी मन के अनुकूल एक सुन्दर रूप के अन्दर ही देखना पसन्द करेंगे। यह स्वाभाविक हैं एवं आवश्यक भी हैं। मन जिस परिमाण से देहात्म बुद्धि का परित्याग कर सकेगा, उस परिमाण से ही उपास्य देव के नाम रूप भी अन्तर्हित हो जायेंगे उसी परिमाण से ही उपास्य देव के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, निर्विकार, निर्विकल्प, निरञ्जन परब्रह्म के समीपस्थ होते

जायेंगे । तथा उसी परिमाण से हम "अवाङ् मनस गोचरम् शुद्धमपापविद्धम्" परब्रह्म से आकृष्ट होंगे एवं उसी मात्रा में नाम रूप का आस्वाद फीका मालूम होगा।

मनुष्य स्वभावत: ही "श्री चैतन्य को" भूल कर 'रूप का' अनुगमन करता है; अत: वह निरञ्जन महा-विष्णु का परित्याग करके त्रिभंग छवि, बंकिम नयन, सहास्य वदन, मुरलीधारी पर अनुरागी होगा—इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है ? जब तक मानव कर्म जगत् में शान्ति एवं आनन्द की आशा रखता है, जब तक वह आशा-वासना का दास बन कर रहता है, जब तक मानव जगत् को सत्य मानकर उसे दृढ़ता से पकड़े रहता है तब तक वह भावना के वेग के कारण प्रभु की तरह-तरह की लीला और महिमा से आकृष्ट होगा ही—यह प्रकृति का ही नियम है।

छपरा

ॐ

निशापत्सु !

तुम बुद्धिमान हो, इस विषय में मुझे कुछ भी संशय नहीं है किन्तु अन्यान्य बुद्धिमानों की भांति तुम भी सम्भवतः मूर्खता के कलङ्क से अपने को मुक्त नहीं कर सकोगे।

जो चिकित्सक रोग का निदान नही कर सकता और भविष्य में कर सकेगा ऐसा भरोसा भी नहीं देता, उस पर चिकित्सा का उत्तरदायित्व क्यों रखोगे? रोग अधिक जटिल होने से पहले ही समय रहते हुए किसी योग्य या प्रख्यात डाक्टर की शरण लेना क्या कल्याणकारक नहीं होगा? चन्दन की इच्छा रखने वाले को मलय पर्वत का ही आश्रय लेना चाहिये, सुन्दर वन का नहीं। भ्रान्तबुद्धि या भ्रान्त परामर्श के कारण चन्दन की आशा से जिस किसी वन में घूमते रहने से चन्दन तो दुष्प्राप्य रहेगा ही, प्रत्युत परिश्रम की अधिकता,

कांटों से विंधना एवं समय तथा शक्ति का अपव्यय भी अपरिहार्य होगा। जिस बाजार में इच्छानुसार वस्तु मिल सकती है क्या पूर्ण पुरुषार्थसे उसी ओर जाना अधिक संगत नहीं है? यदि बाजार से वस्तु खरीदनी ही कर्त्तव्य रूप से निश्चित हो तो खरीदने निकलने से पहिले क्या रुपये की परीक्षा कर लेना ठीक नहीं है? इस रुपये से ही काम चल जायेगा,''ऐसे हेतुरहित अनुमान पर निर्भर करके क्या नकली रुपये लेकर ही बाजार में जाना चाहते हो? मुग्ध मृगगण ही मरुस्थलमें तीक्ष्ण सूर्य किरणों से सुशीतल जलकी प्राप्तिकी आशा रखते हैं। तुम लोग बुद्धिजीवी होते हुए भी क्या ऐसी मूर्खता का परित्याग नहीं करोगे? यदि निर्भर करना ही चाहते हो, तो राज-राजेश्वर का परित्याग करके दीनातिदीन, सामर्थ्यहीन रंक पर क्यों निर्भर करते हो? अध्यात्म जगत् में दृष्टिहीन होकर भी तुम अन्धे के द्वारा परिचालित होने की दुर्गति को स्वेच्छा से क्यों वरण करते हो? विश्व सम्राट् की उपेक्षा कर कृमिकीट का अनुगमन क्यों करते हो? प्रत्येक क्षण में प्रत्येक कर्म के द्वारा तुम क्यों दुर्बल जीव की उपासना करते हो? विचार करो एवं सावधान हो जाओ। नहीं तो निश्चय ही पछताना पड़ेगा। याद रखो, यह मार्ग रपटीला है, दुकान की वस्तुएँ मिलावट से पूर्ण हैं; समय थोड़ा है, काम बहुत हैं और विघ्न अनन्त हैं। कहते हैं जीव देह चौरासी लाख प्रकार के हैं; अतः मनुष्य जन्म का सुयोग चौरासी लाख का भी चौथाई भाग है और पुरुष जन्म की सम्भावना उससे भी आधी है। फिर ब्राह्मण पुरुष होकर जन्म प्राप्त करने का सुयोग कितना कम है—यह सोच कर देखो। उस पर भी योग्य देह और योग्य मनवाला पुरुष ब्राह्मण का जन्म कितने सौभाग्य से मिलता है। उसी मूल्यवान सुयोग को

प्राप्त करके भी यदि तुम उसे बुद्धि की भ्रान्ति से नष्ट कर डालोगे तो क्या वह परिताप का विषय नहीं होगा ? अतः समय रहते हुए सावधान हो जाओ। पवित्र ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, ब्राह्मण होने की चेष्टा करो।

शिखा, यज्ञोपवीत एवं जाति अभिमान का बोझ वहन करने से ही ब्राह्मण नहीं होता। पूर्णतया भगवान् का हो जाने पर ही ब्राह्मणत्व है। भगवान् के गुण-कीर्तन में ही जिह्वा की सार्थकता है, विश्वमूर्ति की सेवा तथा पूजन में ही शरीर की सार्थकता है, भगवच्चिन्तन में ही मन की सार्थकता है और सम्पूर्ण रूप से भगवान् को आत्म निवेदन करने में ही जीवन की सार्थकता है। दुबारा जन्म न हो, तभी यह जन्म सफल है, फिर मृत्यु न हो, तभी इस बार की मृत्यु सफल होगी; भगवच्चिन्तन में जो समय व्यतीत होता है, जीवन का वह अंश ही सफल है। जीवन को व्यर्थ मत गँवाना; भगवान् के दान का असदुपयोग मत करना। समय तथा शक्ति का दुरुपयोग मत करना। वर्ष, महीना, दिन, मिनट, सैकेण्ड के साथ तुम्हारे बिना जाने ही तुम्हारे साधन का सुयोग नष्ट हो रहा है, उस पर ध्यान दो। श्रद्धा सम्पन्न हो जाओ। त्रिपुरारि मृत्युञ्जय ज्ञानमूर्ति महाकाल के सेवक होकर, क्या दुर्बल, सारहीन तथा अज्ञानी रहने में लज्जा नहीं आती ? विश्वास करो तुम्हारे अन्दर अनन्त शक्ति है, तुम्हारी जो इच्छा हो वही कर सकते हो। चेष्टा करते-करते ही इच्छा दृढ़ होगी, भगवान् की कृपा प्राप्त होगी, एवं जीवन धन्य होगा।

आज इति।

विष्णुपुर

★

१६

ॐ

नारायणेषु!

'शुक्र' शब्द का एक अर्थ है—ज्योतिर्मय। स्वयं ज्योति भगवान के वाचक रूप से वेदों में अनेकों प्रसंग पर 'शुक्र' शब्द का प्रयोग किया गया। सारी सृष्टि ही नन्द-नन्दन, व्रजमोहन श्रीकृष्ण का विद्यालय है। तुम, हम सभी इस विद्यालय में सदा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इस विद्यालय में कब प्रवेश किया और कब अध्ययन समाप्त होगा, कौन जानता है? हमारा यह वर्तमान जीवनकाल हमारे समग्र जीवन का एक क्षुद्र अंशमात्र है। उसका कहाँ आदि है और कहाँ अन्त? हम आदि-अन्त पर दृष्टि नहीं रखते, केवल बीच के से अंश को ही देखते हैं। आदि अन्त का विचार भी नहीं करते और न उसे समझना ही चाहते हैं। वर्तमान जीवन ही पूर्ण है, इसके बाहर इसका कोई आदि अन्त है या नहीं, इसका विचार भी हमारे मन में जागृत नहीं होता। हम इस बीच के अंश को ही पूर्ण

मानकर उसी के आधार पर सम्पूर्ण विचार करते हैं, सब जानना चाहते हैं, सब समझना चाहते हैं एवं सबको अपने मत का अनुयायी करना चाहते हैं। परन्तु जहाँ भित्ति ही मिथ्या है वहाँ महल भी सत्य नहीं हो सकता; अतः हमारे सब ज्ञान ही प्रायः भ्रान्त हैं। इसी कारण हम सत्य को मिथ्या एवं मिथ्या को सत्य मान लेते हैं। पूर्व भी नहीं जानते और पश्चात भी नहीं देखते, इसलिये बीच के भाग को लेकर विपत्ति में गिरते और 'हा हतोऽस्मि' कहते रहते हैं। यदि यह विचार करता कि मार्ग का आरम्भ कहाँ से हुआ और कहाँ इसका अन्त होगा, तब तो अनेकों विश्रृंखलतायें बहुत सी दीनतायें, तथा अशान्तियाँ चिरकाल के लिये तुरन्त मिट जातीं। परन्तु क्षुद्रदर्शी मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सम्यक् दर्शन नहीं करता, सम्पूर्ण अंश को स्वीकार नहीं करता। इसी कारण से महामाया की मोह-लीला चल रही है।

जब तक असम्यक् (अपूर्ण) दर्शन है, तब तक ही इस लीला का अस्तित्व है। आचार्य की कृपा से इसे धारणा में ला सकते हैं सब गुरुओं के गुरु, सबसे श्रेष्ठ आचार्य विश्वरूप विद्यालय के एक मात्र नियन्ता, गुरु और मुखोपाध्याय (श्रेष्ठतम आचार्य) जगदीश हैं।

"**मन्नाथः श्रीजगन्नाथो, मद्‌गुरुः श्रीजगत्‌गुरुः।**"

× × × ×

अधिक और क्या लिखूं। सत्य से च्युत नहीं होना। Routine (नियम) बनाकर, तदनुसार रात-दिन के सारे कर्त्तव्यों को ठीक समय पर और जितनी अच्छी तरह सम्भव हो करना चाहिये। जहाँ तक हो सके, व्यर्थ बातें

अनावश्यक बातें न बोलना अच्छा है। ख्याल रखना जिससे इस बार परीक्षा में सफलता प्राप्त कर सको। यह सब परीक्षायें भी बड़ी परीक्षा की एक-एक सीढ़ियाँ ही हैं। जो इन सबमें कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय नहीं दे सकता, वह श्रेष्ठ कर्म को कर सकेगा इसका क्या प्रमाण है?

शिवमस्तु। इति।

कलकत्ता
-१४-'१७

१७

ॐ

नारायणेषु !

सदा ही नियमनिष्ठ रहना उचित है। मन को प्रसन्न रखने की चेष्टा करनी चाहिये। सर्वत्र ही भगवान् के अस्तित्व और कर्त्तृत्व को स्मरण करके, ईर्ष्या, घृणा, विद्वेष और शत्रुता प्रभृति कुभावों को त्यागना चाहिये। अच्छा, यदि भगवान् ही यह सब कुछ हैं, तो शत्रु के प्रति घृणा, व्याघ्रादि से भय और रोगादि कष्टप्रद स्थितियों के प्रति अनिच्छा क्यों होती है ? ऐसा होने पर पूर्णब्रह्म के प्रति प्रेम हुआ है, अथवा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा हुई है "क्या ऐसा कहना ठीक है ? इस विषय में तुम्हारा क्या विचार है ? श्रुति कहती है—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।" कोई भी विषय किसी भी समय पर मन के सम्मुख प्रतीत होते ही उसे ब्रह्ममय चिन्तन करना होगा। उसमें भी भगवान के

अस्तित्व को स्मरण करना होगा। साधारणतः जितना अधिक समय सम्भव हो भगवच्चिन्तन तो अवश्य करो, उसके बीच जब कोई विषय मनमें छिपा हुआ जान पड़े तो उसी क्षण उस विषय में भी भगवान की मूर्ति का ही दर्शन करो। "भगवान ही इस रूप में आये हैं, वे ही इस वेष में विभूषित हैं"—इस प्रकार का चिन्तन करना होगा। चाहे किसी प्रकार का चित्त-विक्षेप हो, उसमें ही भगवत्सत्ता के चिन्तन द्वारा मन को विषय से लौटाकर फिर भगवान् में या आराध्य देवता में ले जाना होगा। इस प्रकार अभ्यास के फलस्वरूप तुम तच्चित हो जाओगे, तुम्हारा मन भगवन्मय हो जायगा। फिर गीता की इस अभय वाणी को याद करो—"मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत् प्रसादात् तरिष्यसि।" यदि ऐसा ही हो, तो फिर भय कैसा ? वे ही सब दुःख कष्ट को मिटा देंगे। स्वयं चेष्टा करके भी तो तुम अपने शारीरिक तथा मानसिक क्लेशों को नहीं मिटा सके। केवल इस जन्म की तो बात क्या है, पहिले के अनन्त जन्मों में तुमने दुःख निवृत्ति के लिये सदा ही अपने सामर्थ्यानुसार यत्न किया था; परन्तु गले पड़ा हुआ वह घाव तो ठीक नहीं हुआ। अतः एक बार चेष्टा करके क्यों नहीं देखते कि इस देसी दवा से रोग जाता है या नहीं ? चेष्टा करने पर सम्भवतः तुम्हें मालूम होगा कि आज जो तुमसे अधिक स्वस्थ और बलिष्ठ है, दो-चार दिन पीछे तुम उनमें से बहुतों की अपेक्षा अधिकतर बलशाली हो गये हो।

शिवमस्तु। इति।

★

१८

ॐ

निरापत्सु !

तुम्हारी इच्छानुसार कुछ स्मरण रखने योग्य बातें लिखता हूं। इन सब को अच्छे कागज पर बड़े-बड़े अक्षरों से लिखकर अपने घर की दीवार पर लटका देना। समय-समय पर आँखों की दृष्टि स्वतः ही इन पर पड़ेगी, या कभी स्वेच्छा से भी इन्हें पढ़ना। जल्दी-जल्दी सभी को मत पढ़ जाना। किसी भी एक को पढ़ना, पढ़कर विचार करना और उसे जीवन में उतारने की चेष्टा करना। कभी एक से ही अकस्मात् ऐसा ज्ञान प्राप्त होगा जो तुम्हारे गन्तव्य मार्ग को बहुत सुगम कर देगा। इन लेखों की भावना पर जीवन की गति चल रही है या नहीं, यह भी विचार करना। यदि लेख स्मरण रहें तो वे घर के बाहर (बाह्य जीवन में) भी सहायता करेंगे।

१ 'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्,
त्वगास्थिमांसं प्रलयञ्च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्प दुर्लभाम्
नैवासनात् कायमनश्चलिष्यते।'

२ 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।'
सर्वतो भाव से भगवान की ही शरण लो।

३ व्यर्थ कर्म छोड़ दो।

४ फिर ?

५ सावधान ! यदि अभी मृत्यु हो।

६ आलस्य महापाप है।

७ 'वैराग्यमेवाभयम्' वैराग्य ही एकमात्र अभयप्रद है।'

८ 'ब्रह्मचर्यमहिंसां सत्यञ्च यत्नेन हे रक्षत, हे रक्षत, हे रक्षत,
ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य की यत्न से रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो।

९ 'वे सदा ही समीप हैं, वे सभी जान रहे हैं।

१० 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।'
वह आत्मा नित्य, सर्वगत् खम्भे की नाईं स्थिर, अचल एवं सनातन है।

११ 'उन्हें प्राप्त करने के लिये यह कष्ट क्या तुच्छ नहीं है ?'

१२ जितना कष्ट का भोग होता है, उतना ही प्रारब्ध क्षय हो जाता है और उतना ही शान्ति की ओर आगे बढ़ रहा हूं।

१३ 'संशय न करना। हताश नहीं होना। आगे बढ़ो मंगल-हस्त तुम्हारी पीठ पर है।'

१४ तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो, करुणामय स्वामिन्।'

१५ 'सरलता धर्ममन्दिर की सीढ़ी है।'

१६ 'यदि आराम की इच्छा करूँ, और विषयों के प्रति आकर्षण भी कम न हो, तो प्रेम कितना कम है और व्याकुलता का स्वरूप भी क्या है ?'

१७ 'He liveth longest who can tell of true things truly done each day.'

'वही दीर्घकाल तक जीवित रहता है, जो प्रतिदिन सत्य आचरण के द्वारा किये हुए सत्य व्यवहारों की बात कर सकता है।'

१८ 'Pray and it will be heard'

'Knock and the gate will be opened unto you.'

'प्रार्थना करो—और वह सुनी जायेगी।'

'धक्का दो—और द्वार तुम्हारे लिये खुल जायेगा।'

१९ 'अब जो बाकी रह गया, वह कब होगा, क्या निश्चय है ?'

२० 'बिना नियमनिष्ठा नियम से अतीत होना असम्भव है।'

२१ 'चाहिये—स्वास्थ्य, संयम और सेवा।

२२ 'भगवान् को सन्तुष्ट करना—लोकमत की अपेक्षा मत रखना।'

२३ 'यदि उन्हें ही (भगवान् को) न प्राप्त किया जाये तो इस जीवन में क्या लाभ है ?

२४ 'कोई कुछ नहीं है, यदि वह धर्ममार्ग में सहायतारूप न बने।'

२५ 'मैं' मरने से (अहंभाव सर्वथा मिट जाने से) आपत्तियाँ मिट जायँगी।'

२६ 'निरन्तर उन्हें ही पुकारो-सरल तथा व्याकुल हृदय से।'

२७ 'जन समूह की चिल्लाहट के अन्दर अपने को खो मत देना। तात्पर्य–जन समाज के द्वन्द्वाकुल जीवन-व्यापार के अन्दर रहते हुए साधक को अपने जीवन के उच्चतम ध्येय और आदर्श को कदापि भूलना नहीं चाहिये अर्थात् स्वरूप विस्मृत नहीं होना चाहिये।'

२८ 'आयु भी कम हो रही है, अतः साधन का सुयोग भी कम होता जा रहा है।'

२९ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' ईश्वर से ही यह सब (चराचर विश्व) व्याप्त है।'

३० 'मैं जिसे मारूँ, कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? मैं जिसकी रक्षा करूँ, उसे कौन मार सकता है ?'

३१ 'विश्वास करो, फल प्राप्त होंगे।'

३२ 'ज्ञान का प्रकाश दो; निर्भरशील को बल दो। दास को अपने से ही तृप्त रखो।'

३३ 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है।'

३४ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' तुम्हारा केवल कर्म में ही अधिकार है—कभी भी कर्मफल में अधिकार नहीं है।

३५ श्रद्धा चाहिये। शौर्य चाहिये।

'निर्गतोऽसि जगज्जालात् पिञ्जरादिव केसरी।' केसरी जैसे लोहे के पिंजरे से बलपूर्वक निकल जाता है, वैसे ही संसार रूप जाल से निकल पड़ो।

३६ 'रोते-रोते आये हो, ऐसा करो जिससे हँसते-हँसते जा सको।'

३७ 'Fame is the last infirmity of a noble mind.'
'यश ही महान मन की अन्तिम दुर्बलता है।'

३८ 'न्याय की मर्यादा को नहीं तोड़ना चाहिये।'

३९ 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' बलहीन को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

४० 'अभेददर्शनं ज्ञानं, ध्यानं निर्विषयं मन:' अभेद दर्शन ही ज्ञान है, एवं निर्विषय मन ही ध्यान है।'

४१ 'विघ्नों से पूर्ण, जीवन के मार्ग में धैर्य ही प्रधान सहाय रूप है।'

४२ 'जब जिस स्थिति में तुम मुझे रखोगे, मेरे लिये वही मंगल रूप है; मैं कदापि तुम्हें न भूलूं।'

४३ 'शरीर के लिये आहार है, आहार के लिये शरीर नहीं है।

४४ 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव:।' अपने-अपने कर्मों के द्वारा परमेश्वर की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

आज इतना ही।

शिवमस्तु। इति।

१६

ॐ

नारायणेषु !

उस चिरकुमार तथा नित्य नवीन अतिथि को आश्रय देने का कर्त्तृत्व (कर्त्तव्य) आपका नहीं है, यह किसने कहा ? सङ्गीत तरङ्ग में भजनानन्द का उपभोग करने की जिनकी वासना तथा कर्त्तृत्व है, भगवानतत्व और साधन रहस्य को जानने के लिये जिनका व्याकुल प्रयास देखने में आता है, गीता के अर्जुन, योगवाशिष्ठ के रामचन्द्र और उपनिषद् के नचिकेता की भांति (इतना न भी हो किन्तु कुछ अंश में भी) सत्य के अनुसन्धान में जिनकी दौड़-धूप चल रही है, उनके लिये अनाथ बालक को आश्रय देने का कर्त्तृत्व (कर्त्तव्य) और उसकी आवश्यकता भी अवश्य है।

जब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता, तब तक प्रत्येक जीव में ही कर्म और कर्त्तृत्व-बुद्धि है। मुक्ति मार्ग

पर आगे बढ़ने वाला मनुष्य समझने लगता है कि सभी श्री भगवान की लीला है और वे ही सब यन्त्रों के यन्त्री हैं। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।' यदि इस सत्य का ठीक-ठीक अनुभव हो जाय, तो मुक्ति और क्या बाकी रही? परन्तु यह बोध या ज्ञान पहले ही उत्पन्न नहीं होता। प्रयत्न तथा साधन के द्वारा ही इसे उत्पन्न करना पड़ता है। जब तक यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक विश्वास और निर्भरता ठीक-ठीक नहीं होते; तो भी भगवान में निर्भरता तथा पूर्णतया आत्म-निवेदन के लिये पहले से ही चेष्टा करनी चाहिये और इसी चेष्टा के साथ-साथ 'भगवान मंगलमय और प्रेमस्वरूप हैं' यह भी समझना चाहिये। नहीं तो, किस आशा तथा विश्वास से क्षुद्र-प्राण तथा चञ्चल मनुष्य अपने सर्वस्व को भगवच्चरणों में समर्पित करके शान्त रहेगा?

शास्त्र तथा सत्संग की सहायता से सच्चिन्ता तथा सत्कर्म के फल से और भक्ति तथा विचार के आलोक से श्रीभगवान के प्रेममयत्व, मंगलमयत्व, सर्वमयत्व, ज्ञानमयत्व एवं सर्वकर्त्तृत्व की धारणा करने की चेष्टा कीजिये। जितना तपस्या में आगे बढ़ोगे, उतना ही आप उन्हें अधिक से अधिक जान सकोगे और समझ भी सकोगे एवं उतना ही उनके प्रति आत्म-समर्पण भी कर सकोगे।

इस सौभाग्य की प्राप्ति के लिये आपको विधिपूर्वक तपस्या में नियुक्त रहना होगा; एवं उस प्रकार की तपस्या के लिये आपको गुरु की सहायता भी अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। आप आध्यात्मिकताकी दुर्गमतासे परिचित नहीं हैं। धर्म राज्य में आप अन्धे हैं, फिर स्वयं किस तरह चल सकोगे?

गुरुरूपी विज्ञानमय पुरुष के द्वारा अथवा करुणामण्डित गुरुमूर्त्ति के द्वारा शक्ति प्रदान न करने पर आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होना असम्भव है। जैसे श्रीभगवान की अविद्या शक्ति जीवों को मोहबद्ध करके संसार-चक्रमें भ्रमित कर रही है, उनकी अनुग्रह-शक्ति भी वैसे ही गुरुरूप से अविद्या वन्धन काटकर जीव को शिवत्व प्रदान करती है। अतः साधारण दुर्बल मनुष्य के लिए गुरु स्वीकार करना एक आवश्यक कर्त्तव्य कर्म है। ब्रह्मानन्द गिरि (ब्रह्माण्डगिर) गुरु प्रदत्त अशुद्ध मन्त्र का जप करके ही फल प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। किन्तु उस प्रकार का तेज और भक्ति सबके लिए सुलभ नहीं है। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।' साधारण मनुष्यों के लिए योग्य गुरु प्राप्त करने की चेष्टा उचित है। परन्तु किस तरह योग्य गुरु को पहिचान सकोगे? केवल नाम ख्याति सुनकर ही गुरु को स्वीकार नहीं करना चाहिये। प्रत्येक महापुरुष के प्रति ही सबकी श्रद्धा नहीं होती। जिन पर मेरी श्रद्धा है सम्भवतः आप उन्हें बिल्कुल पसन्द न करें। और जिन्हें मैं पसन्द नहीं करता, संभवतः वे ही आपके श्रद्धाभाजन हो जायँ। अतः दूर से नाम (ख्याति) सुनकर ही गुरु के विषय में निर्णय नहीं लेना चाहिये। यदि दीर्घकाल तक संग करके, बातचीत करके और आचरण देखकर हृदय में आकर्षण जान पड़े, अपने को योग्य मालूम हों, और पूर्ण सरलता के साथ उन्हें हृदय की सारी गुप्त बातें बताने की इच्छा एवं सामर्थ्य हो, यदि वे प्रेमी, निःस्वार्थ तथा उदार प्रकृति वाले हों और यदि आप उन्हें निरभिमान, श्रोत्रिय, ब्रह्मविद् एवं ब्रह्मनिष्ठ समझें तो अवश्य ही उनके चरण-कमलों में अपने को समर्पित कर सकते हैं।

परन्तु इस प्रकार से योग्य गुरु का चयन होने पर ही आपका कर्त्तव्य समाप्त नहीं होगा। गुरु उन्नत होने से ही शिष्य भी उन्नत होगा—ऐसा कोई नियम नहीं है। महापुरुषों की कृपा अवश्य अमोघ है, साधारणतया ऐसा कहा जाता है कि गुरुभक्ति तथा गुरुदत्त साधन में आसक्ति न होने से शिष्य को अधिक फल की प्राप्ति नहीं होती। शिष्य की श्रद्धा-हीनता, दुर्बुद्धि और अभिमान के कवच से प्रतिहत होकर न जाने कितनी गुरु कृपा तथा कितनी ईश्वर कृपा लौटने के लिये बाध्य होती है।

हे कबीर ! गुरु हते ज्ञान जे लभिते चाय
शिर येन कटे तारे दान।
गियाछे अबोध कत संसार सागरे भेसे
बाँचाई ते आत्म-अभिमान ॥

'हे कबीर ! जो गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अवश्य ही अपने सिर का बलिदान देना होगा। कितने मूर्ख अपने आत्माभिमान की रक्षा के लिये संसार समुद्र में बह गये।'

गुरु के आगे आपको अन्धा होना होगा। गुरु के आगे पूर्णतया आत्म बलिदान देना होगा। राममय प्राण लक्ष्मण की भांति स्वाधीन बुद्धि का परित्याग करना होगा। दूसरे के साथ स्वाधीन सम्पर्क का सर्वथा परित्याग करके पूर्णतया गुरु की ही अधीनता स्वीकार करनी होगी। उनके प्रति अविचलित श्रद्धा और निष्कपट प्रेम की रक्षा करनी होगी। उनकी सेवा में देह तथा मन को अर्पित करना होगा। सदा ही उनका आज्ञानुवर्ती रहना होगा।

एक बात कहता हूं, चेष्टा करते हुए भी यदि मन के अनुकूल गुरुदेव की प्राप्ति न हो तो उसके लिये भगवान से प्रार्थना करते रहिये। आपके व्याकुलतापूर्ण कातर क्रन्दन से प्रेममय का आसन हिल उठेगा और वे अवश्य ही यथा समय योग्य गुरु की प्राप्ति करा देंगे।

जब तक गुरु न मिलें तब तक प्रार्थना, नाम, कीर्तन और भगवत् स्मरण करते रहिये और यथासम्भव निर्दोष होने के लिये यत्न कीजिये। जिस दिन भक्तवीर लाला बाबू सेठ के मन्दिर में मधुकरी भिक्षा माँगने के लिये उपस्थित हुए थे, उससे पहले पूज्यपाद कविराज गोस्वामी की कृपा प्राप्त करने के लिये उनकी सारी चेष्टायें व्यर्थ हुईं थीं। अतः योग्य शिष्य होने के लिये योग्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिये।

यदि गुरु की प्राप्ति और धर्म में उन्नति करने की आपको प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है, तो भगवान अवश्य ही आपके मन की आशा पूर्ण करेंगे। हमारा एक मित्र एक गृहस्थाश्रमी गुरु से दीक्षा लेकर साधन करने के लिये हिमालय में आया था। साधन करते समय कुछ संशयों से वह व्याकुल हो गया। वह उनका समाधान नहीं कर सका। इसलिये और कोई उपाय न सूझने पर (के कारण) वह अत्यन्त अस्थिर चित्त होकर समय व्यतीत करने लगा। कुछ काल इस तरह व्यतीत होने के पश्चात् वह लगातार तीन रात्रियों में स्वप्न द्वारा किसी महात्मा से साधन के रहस्य का उपदेश प्राप्त करके धन्य हुआ था। इस प्रकार उसके सब संशय मिट गये थे। अब उसकी स्थिति बहुत उन्नत है। इसी कारण कहता हूं कि जो व्यक्ति सरल हृदय के साथ आत्मोन्नति की कामना

करता है, भगवान उसके सारे बिघ्न तथा विपत्तियों को नष्ट करके उसे आनन्द धाम में ले जाते हैं। सत्य है कि सत्कर्म में हजारों विघ्न हैं; परन्तु सहिष्णु बनकर कुछ काल तक दृढ़ रहने से अवश्य ही प्रकाश मिल जाता है।

आज इतना ही।

स्वर्गाश्रम

द्वितीय भाग



२०

ॐ

१ भगवद्विषयक प्रश्न, प्रश्नकर्त्ता, उत्तरदाता तथा श्रोता—इन तीनों व्यक्तियों को ही पवित्र करता है।

२ यमलार्जुन वृक्ष के अन्दर रहने वाले दोनों महापुरुषों ने भगवान से प्रार्थना की—'हे जगन्मंगल! हे परमशिव! ऐसा करो कि हमारी वाणी आपके गुण-कीर्तन में, दोनों कान आपकी महिमा के श्रवण में, दोनों हाथ आपकी चरण-सेवा में, चित्त आपके चरण-चिन्तन में, मस्तक आपके आवासभूत इस जगत् को प्रणाम करने में और दृष्टि आपकी प्रतिमारूप साधुओं के दर्शन में ही सदा नियुक्त रहे।'

३ ब्रह्मा ने कहा, 'हे विभो! तुम्हीं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हो, अतएव ममता के आस्पद इस जगत् और शरीर को तुम्हें ही अर्पण करता हूं।'

४ रासलीला के समय प्रत्येक गोपी ही सोचती थी कि 'श्रीभगवान मेरे ही समीप हैं।'

५ भक्त निर्वाण की भी आशा नहीं करते। वे पूर्णतया निष्काम तथा निःसंग रहते हैं।

६ चित्त विषय का चिन्तन करता हुआ जैसे विषयासक्त होता है, भगवच्चिन्तन करता हुआ भी वैसे ही भगवान् में अनुरक्त होकर उनमें विलीन हो जाता है।

७ भगवान के नित्य स्मरण से ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की प्राप्ति होती है।

८ विस्मृत (भूली हुई) मणिमाला जैसे कण्ठ में रहने पर भी अप्राप्त-सी जान पड़ती है, वैसे ही भगवान् सदा हृदय में विराजमान रहने पर भी वासना से मलिन मनुष्यों के लिये दुर्लभ ही हैं।

९ निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति जल्दी हो जाय, इसी के लिये संगीत की सृष्टि हुई है। नृत्य गीत तथा वाद्य भगवान के उद्देश्य से न होने पर ही व्यसनरूप हैं। और तब तो वे काम को उत्पन्न करने वाले एवं कामोद्दीपक बन जाते हैं।

१० सम्भवतः तुमने एक अन्धे साधु की कहानी सुनी होगी। पाँच-छः साल पहले वह सूरदास एक दिन अकेला चलता मार्ग को भूलकर एक वन में जा पहुँचा। वहाँ अन्य कोई उपाय न सूझने से उसने अपने गुरुदेव के दिये हुए उपदेश के अनुसार प्रायः सारी रात अपने उपास्यदेव श्रीश्री शंकर भगवान के नामों का जप किया। तब उसे ब्राह्मण के रूप में श्रीभगवान मिले और उनके साथ चल कर (सड़क पर

घृतमिश्रित दाल रोटी खाकर) वह हरिद्वार में पहुँचा। इस साधु ने गत वर्ष हरिद्वार में देह-त्याग किया है।

११ भगवान सदा ही साथ हैं, और वे सदा ही हमारी रक्षा करते हैं—इस बात में सरल चित्त से विश्वास रखना और इसे स्मरण रखने की चेष्टा करना।

१२ तुम्हारी तपस्या जड़त्व और Dull routine works (नीरस दैनिक कृत्य) में परिणत न हो जाय, इसका ध्यान रखना। तपस्या की भावना सत्यमय, जाग्रत तथा जीवन्त हो, और उससे तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित हो।

१३ समस्त अमंगलों के हाथ से छुटकारा पाने के लिये ही तो तपस्या है। विधिपूर्वक तपस्या करने से अमंगल हो ही नहीं सकता।

१४ मौन, चेष्टाहीनता तथा प्राणायाम क्रम से वाक्य, शरीर और मन के दण्ड हैं। इन दण्डों के बिना, केवल बांस के दण्ड का भार ढोने से कोई यति नहीं हो सकता।

१५ भगवान की प्रसन्नता के लिये कर्त्तव्यों का ठीक समय पर और नियमपूर्वक पालन करना तपस्या का एक श्रेष्ठ अंग है। केवल नासिका को दबाना या जप करना ही तपस्या नहीं है।

१६ जब तक क्रोध और विद्वेष, ईर्ष्या और स्वार्थपरता अभिमान और लोक-निन्दा का अभ्यास वर्तमान रहेगा, तब तक कठोर तपस्या के द्वारा भी भक्ति प्राप्त नहीं कर सकोगे।

१७ साधु-संग सब संगों को दूर करने वाला है।

१८ सत्य को त्याग कर सुख की खोज नहीं करनी चाहिये। विचार को छोड़कर भाव-प्रवणता की पुष्टि नही करनी

चाहिये। तथा न्याय-निष्ठा का परित्याग करके केवल दान शीलता में ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये।

१९ जो रात्रि के शेष प्रहर में तपस्या करके अच्छे (Halo) परमाणुओं का संग्रह कर लेते हैं उनके लिये प्रातः स्नान का विधान नहीं है (आवश्यक नहीं)।

२० कट्वम्ल लवणान्युष्ण तीक्ष्ण रुक्षविदाहिनः।
पूति पर्यु षितादिनां त्यागः सत्वाय कल्पते ।।

२१ लोभ से जो कुछ खाओगे, उससे ही तामसिकता बढ़ेगी।

२२ जब तक जिह्वा (रसनेन्द्रिय) संयत नहीं होगी तब तक सारी इन्द्रियाँ ही अवशीकृत रहेगी।

२३ सन्ध्या के समय भोजन करना अच्छा नहीं है। आहार के समय बातचीत करना भी ठीक नहीं है। दाहिने नासिकासे श्वास चलने के समय आहार करना अच्छा होता है। भोजन के पहिले हाथ पैर धो लेना चाहिये। पवित्र वस्त्र पहन कर, पवित्र स्थान पर उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुंह करके बैठना चाहिये और पवित्र भाव से आहार ग्रहण करना चाहिये। निषिद्ध आहार सर्वदा ही वर्जित है।

२४ पाखण्ड या धूर्त्तता के द्वारा कोई धार्मिक नहीं बन सकता। धूर्त्तता से किसी-किसी व्यक्ति को कुछ दिन तक धोखे में रखा जा सकता है, किन्तु सभी को सर्वदा धोखा नहीं दिया जा सकता। फिर जिनके सभी ओर नेत्र हैं उनको धोखे में रखने की बात तो दूर रही।

२५ एक कर्म दूसरे अनकों कर्मों की प्रसव भूमि है। जहाँ निरन्तर तपस्या की ही आवश्यकता है, वहाँ पर बहुत

विचारों के पश्चात् और बहुत सावधान होकर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये ।

२६ भरत राजा की मृगत्व प्राप्ति की कहानी सन्यासी के लिये सदा ही स्मरणीय है ।

२७ भय ही हमारी प्रधान दुर्बलता तथा प्रधान अज्ञान है। वैराग्य अभय है। भक्ति और विचार के बल से वैराग्य को बढ़ाओ ।

२८ मनुष्य चाहे कैसा ही हो, उसकी बुराई पर दृष्टि डालने से ही तुम्हारी अधोगति होगी, और उसकी भलाई की ओर ध्यान से ही तुम्हारी उन्नति होगी ।

२९ चापलूसी करना मानो मनुष्य जाति का एक अपरिहार्य धर्म है। याद रखो, चापलूसी करके हम अपनी तथा दूसरे की हानी ही करते हैं ।

३० मनुष्य जब तक हाय ! हाय ! करता है तब तक वह शूद्र है; जब 'यह मेरा है' 'यह मुझे चाहिये' इस वस्तु से अमुक वस्तु को प्राप्त करूँगा'—इस प्रकार स्वार्थ वासना से मुग्ध होता है तब वह वैश्य है; जब दुर्बल के प्रति अन्याय आचरण को देखने से क्रोध प्रकट करता है, अन्याय करने वाले को दण्ड देने की चेष्टा करता है, परार्थ के लिये आत्म-बलिदान करने को तैयार होता है, तब वह क्षत्रिय है; और जब सम्पद् विपद् में, मान-अपमान में, सुख-दुःख में, समभाव से सन्तुष्ट रहता है और अहितकारी को भी क्षमा करता है, तब वह ब्राह्मण है ।

३१ वर्ष में छः ऋतुयें होती हैं तथा प्रत्येक दिन में छः अवस्थायें रहती हैं ।

३२ सत्ययुग में सत्य प्रधान है; त्रेता, द्वापर तथा कलि-अप्रधान है। त्रेता युग में त्रेता प्रधान है; सत्य, द्वापर और कलि अप्रधान हैं; द्वापर युग में द्वापर प्रधान हैं, सत्य, त्रेता और कलि अप्रधान हैं। तथा कलियुग में कलि प्रधान है, सत्य, त्रेता और द्वापर अप्रधान हैं। इस प्रकार प्रत्येक युग ही दूसरों से भिन्न है, तथापि प्रत्येक के अन्दर सब युग भी रहते हैं।

कनखल
२८-७-'१७

२१

ॐ

१

अधर्म	+	मिथ्या
दम्भ	+	माया
लोभ	+	शठता
क्रोध	+	हिंसा
कलि	+	कटुभाषण
मृत्यु	+	भीति
निरय या नरक		यातना

२ देश, काल, निमित्त, राग, द्वेष तथा अल्पज्ञान और अभिमान—ये सभी जीव के बन्धन के कारण हैं।

३ आणवमल, मायीयमल, कर्ममल।

४ वर्तमान समय का सर्वोत्तम उपयोग जैसे होगा मैं उस प्रकार करता हूं या नहीं ? इस समय मेरा क्या कर्तव्य है ?

५ भगवान ही सब कुछ हैं और सब कुछ करते हैं।

६ मन ही मन का नाश करता है। अभिमान ही अभिमान को नष्ट करता है। गुण ही गुण को हटाता है। भाव प्रवणता (Sentiment) ही भाव-प्रवणताओं को (Sentiments) को विनष्ट करेगी।

७ जब अपनी शक्ति से कार्य नहीं किया जा सकता तब भगवान से शक्ति की भिक्षा माँगो। उनके खजाने में प्रचुर सामर्थ्य है। पर वह याचना करने से ही मिलेगी।

८ सुरूप कुरूप-बुद्धि, हेयोपादेय-बुद्धि और शुभाशुभ बुद्धि—ये सब राग-द्वेषरूप ही हैं। बस एक मात्र ब्रह्म ही है। उससे भिन्न तो कुछ है ही नहीं, उस पर क्यों शुभाशुभ का आरोप करूँगा ? जो बिल्कुल नहीं है उसके प्रति रुचि-अरुचि की भावना भी क्यों होगी ? अतः सर्वदा तन्मय होकर ही रहूंगा।

९ वह धर्म, धर्म ही नहीं है जो हमें आत्म-त्याग करने की शिक्षा नहीं देता। और जो अपने सुख की अपेक्षा को कम नहीं करता।

१० प्राण-स्पन्दन ही वासना है, और वासना ही प्राण-स्पन्दन है।

११ स्वप्न भी वासना है।

१२ स्वार्थपरता जितनी कम होगी, उतनी ही उन्नति होगी।

१३ भगवच्चिन्तन जैसे भवरोग की (संसार रूप व्याधि की) औषधि है, वैसे ही वह शारीरिक रोगों की भी औषधि है।

१४ यदि यम-नियम का पूर्ण अभ्यास न करके एकदम समाधि सिद्धि के लिये तत्पर हो जाओ तो उससे सफलता की आशा थोड़ी है।

१५ जितनो कुचिन्ता तथा कुप्रवृत्ति जागृत होगी तथा जितने ही तुम असत् विषयों में संलग्न रहोगे, उतनी ही तुम्हारी हानि और अवनति (अधःपतन) है, और जितनी ही सच्चिन्ता एवं सत्प्रवृत्ति जागृत होगी तथा जितने ही तुम सद्विषयों में संलग्न रहोगे उतना ही तुम्हारा लाभ और उन्नति हैं।

१६ तुम्हारी असच्चिन्ता और असत्कर्म के द्वारा तुम्हारी हानि होती है और सम्पूर्ण जगत् की भी और तुम्हारी सच्चिन्ता और सत्कर्म से तुम्हारा भी उपकार होता है और जगत् का भी।

१७ जगत् विश्वास के ऊपर प्रतिष्ठित है।

१८ विश्वास करो, और निश्चिन्त हो जाओ।

१९ जो निर्भर करता है वह व्याकुल क्यों होगा ? जिसने आत्म-समर्पण किया है, वह अपने लिये क्यों चिन्ता करेगा ? दत्तापहारी (देकर लेने वाला) न बनना।

२० मन जितना चञ्चल तथा अस्थिर होता है विघ्नों का विघ्नत्व उतना ही बढ़ता है। मन को जितना स्थिर तथा शान्त रखोगे, उतना ही अनुभव करोगे कि अनेकों विघ्न स्वतः ही अन्तर्हित हो जाते हैं, और उनमें से बहुत तो विघ्न के कृत्रिम रूप ही होते हैं।

२१ भगवान् परीक्षा की कसौटी पर कस करके ही साधक की उज्वलता तथा शक्तिमत्ता बढ़ाते हैं।

२२ जो जितनी ऊँची श्रेणी में पढ़ता है उसकी परीक्षा उतनी ही कठिन होती है।

२३ दु:ख से धैर्य की, प्रलोभन से संयम की और विपत्ति से मनुष्यत्व की परीक्षा होती है।

२४ जितने दु:ख भोग लेते हो, उतने ही दु:ख के बादल हट जाते हैं; और उतने ही शुभ दिन समीप आ जाते हैं।

२५ सहन करो—मंगल होगा।

२६ हित परिमित भोजी नित्यमेकान्तसेवी
सकृदुचित हितोक्तिः स्वल्प निद्राविहारः
अनुनियमनशोलो यो भजत्युक्त काले
स लभत यद् शीघ्रं साधु चित्त प्रसादम्।

ऋषिकेश

२२

ॐ

१ विषयानन्द—भजनानन्द—ब्रह्मानन्द ।

२ तपस्या करना अकेले । दो इकट्ठे होने से ही तपस्या में हानि पहुँचेगी ।

३ सत्ययुग में तपस्या नष्ट हुई कुतूहल के कारण ।
त्रेतायुग में शौच नष्ट हुआ आलस्य तथा शारीरिक सुख की प्रियता के कारण ।
द्वापर में दया नष्ट हुई स्वार्थपरता के कारण ।
कलियुग में सत्य नष्ट हुआ आसक्ति के कारण ।।

४ 'देवे च वेदे च गुरौ च मन्त्रे,
तीर्थे महात्मन्यपि भेषजे च ।
श्रद्धाभवत्यस्य यथा यथान्तः,
तथा तथा सिद्धिरुदेति पुंसाम् ।।'

५ तपस्या के द्वारा शक्ति का विकास होता हैं ।

६ तपस्या करते हुए जब कुछ दर्शन होता है, तब तपस्या को छोड़ कर उस दर्शन में ही ध्यान न जाय—इसका ध्यान रखना। तुम अपनी तपस्या को ही दृढ़ता से आश्रय करके रहो। दर्शनादि जो होने हैं, वे स्वतः ही यथासमय पर होंगे।

७ तपस्या जितना अधिक सम्भव हो, करते रहो।

८ तत्त्व वृत्ति या 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति में प्रतिष्ठित होना ही जीवन्मुक्ति है। विदेहमुक्ति में यह वृत्ति भी नहीं रहती; वहाँ पर केवल मौन या चित्स्वरूपत्व है। विदेह मुक्त सम्पूर्ण अभिमान से मुक्त और सब भेदों से अतीत है तथा वह सारी चिन्ताओं से रहित और सर्वदा अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप में ही स्थित रहता है।

९ 'येषां साम्ये स्थितं मनः।'
'जिनका मन समता में स्थित है।'

१० मनमें बहुत्व तथा नानात्व वृत्तियाँ जितनी कम हों और वह जितना ही एक सुर तथा एक रस प्रतिष्ठित रहे, उतना ही अच्छा है।

११ संकल्प और वासना की नाईं स्मृति का भी त्याग करना होगा। पुरानी स्मृति की सहायता से शैतान कितने ही प्रकारों से साधक पर आक्रमण करता है।

१२ पुराने स्नेह सम्बन्ध जितने दूर हो सकें उतना ही अच्छा है।

१३ सारी अवस्थाओं में ही मन को शान्त तथा सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करनी चाहिये। सभी विघ्न विपत्तियाँ परीक्षा रूप हैं—ऐसा सोचना चाहिये। इस समय जो सामान्य असुविधा हुई है, उससे बहुत अधिक असुविधा भविष्य में

हो सकती है। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि कोई भी असुविधा, न जान पड़े।

१४ 'प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वे एते श्रुति गोचरे।
प्रवृत्या बध्यते जन्तुर्निवृत्यातु विमुच्यते ॥'

१५ तीव्र इच्छा रहने पर दोषों में कमी आने में अधिक दिन नहीं लगते। थोड़ा भोग, थोड़ा सुख, थोड़ा आराम,—इन सबके प्रति मन जितना अधिक खिंचेगा, दोष दूर होने में उतना ही विलम्ब होगा।

१६ दोषों का शेष रखना निरापद नहीं है।

१७ अपने सामान्य दोषों को भी अधिक मानो।

१८ कुछ समय तक कार्य में लगे न रहने से फल-प्राप्ति नहीं होती।

१९ सहस्त्रों प्रतिकूल स्थितियों में भी जो धैर्य के साथ आगे बढ सकता हैं, वह वीर पुरुष ही जयी होता है। और भगवान की करुणा को प्राप्त कर सकता है।

२० 'दया, तितिक्षा, संयम, वैराग्य, अमानित्व, अदम्भित्व, शिष्टाचार, सत्यपरायणता, सदाचार, असूया-रहिता, उत्साह तथा अध्यवसाय और सबसे बढ कर अव्यभिचारिणी भक्ति' ये सभी उन्नति के लिये आवश्यक हैं।

२१ जिसमें सच्ची धर्म-प्रवणता है वह किसी भय या संशय से धर्म-मार्ग का परित्याग नहीं करेगा, जो उसका परित्याग करता है उसमें धर्म-प्रवणता नहीं है।

२३

ॐ

१ जिसकी विद्या और ऐश्वर्य अभिमान के कारण हैं, जिसकी बुद्धि और शक्ति दूसरों को दुःख देने के लिये हैं, और जिसके धर्म तथा कर्म स्वार्थ एवं यश-मान के लिये हैं, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

२ जो ईश्वर की परवाह नहीं करता, जो शास्त्र के प्रति अवज्ञा या घृणा रखता है, और जो देह को ही आत्मा मान लेता है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

३ जो भक्त तथा गुरुजनों की निन्दा करता है, जो विद्वान् व्यक्ति से घृणा करता है और जो सदाचार को त्याग देता है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

४ पर-पीड़न में जिसकी प्रीति होती है, इन्द्रिय-तृप्ति में ही जिसे आनन्द है और कटुभाषण जिसका स्वभाव है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

५ इन्द्रियों को जो मित्ररूप समझता है, आशा तथा ममता को ही जो सुख का कारण मानता है तथा जो सद्-असद् विचार का आश्रय नहीं लेता, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

६ वेष आदि की सहायता से जो अपने दोषों को छिपाता है, अपने को धार्मिक बतला कर प्रचार करता है, दोष-रहित होने के लिये प्रयत्न नहीं करता और जो भक्तिहीन तथा प्रपञ्च-सेवी है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

७ परदोष दर्शन में जिसके सहस्र आँखें हैं, परदोष श्रवण में जिसके सहस्र कर्ण हैं, परदोष कीर्तन में जिसकी सहस्र जिह्वा हैं, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

८ जिसकी मलिन बुद्धि में आत्मा प्रकाशित नहीं होता, जो श्रद्धाहीन विषमदर्शी और देहाभिमानी है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

९ सम्पूर्ण शास्त्रों का अध्ययन करके भी जिसका मन भगवान में नहीं लगता, अनेकों सत्कर्म करके जिस पर अभिमान का ही बोझा बढ़ता रहता है, तथा जिसे विनय और शिष्टाचार ने त्याग दिया है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

१० जो व्यक्ति 'विषकुम्भं पयोमुखम्' है जो धूर्त और मिथ्यावादी हैं, जो कपट और परश्रीकातर (दूसरे के ऐश्वर्य को देखकर सहन न कर सकने वाला) है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

११ जो लोभी तथा क्रोधी है, जो लज्जाहीन और स्वार्थपर है और जो दूसरे की प्रशंसा को सहन नहीं कर सकता, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

१२ जो सम्मान प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ जानता है, जिसकी विद्या और बुद्धि केवल विवाद की ही सृष्टि करती हैं, बड़ी-बड़ी बातें बोलने पर भी जिसका मन सर्वदा नीचे के स्तर में ही विचरण करता है, वह अवश्य ही साधु नहीं है।

तुम साधु बनो, सच्चे साधु बनो। सभी वर्ण तथा सभी आश्रमों में साधु बन सकते हैं। किसी भी आयु और स्थिति में साधु हो सकते हैं। समस्त देशों और सभी कालों में साधु होकर रह सकते हैं। तुम सब मन-प्राण से साधु बनो।

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां विशेषः को वृत्तिर्येषां तु तैः समा॥

धैर्य, तितिक्षा, संयम, वैराग्य, विवेचना, विनय, और शिष्टाचार के उच्चतम आदर्श से तुम कभी च्युत न हो।

बात चीत, आहार निद्रा, कर्म तथा बिश्रान्ति में तुम्हें सावधान रहना चाहिये जिससे सर्वदा ही मानव जीवन की अर्थात् तपस्वी जीवन की मर्यादा को सुरक्षित रख सको।

ध्यान रखो कि तुम्हारा व्यवहार अपने और दूसरे के लिये हानि कारक न हो।

ध्यान रखो कि आलस्य, चपलता, अविचार असावधानी, असंयम तथा उच्छृङ्खलता तुम्हारे पास भी न आ सकें।

ध्यान रखो, कामों को जैसे-तैसे विश्रृङ्खला से) करना, ध्यानपूर्वक न करना, या धूर्त्तापूर्वक

समाप्त करने की चेष्टा करना और अपने दोष दूसरे के कन्धे पर मँढना—ये सब कलंक तुम्हें कभी स्पर्श न करें।

ध्यान रखो, आत्मत्याग करने में, सेवा परायण होने में और विश्वमूर्ति भगवान की सेवा-पूजा करने में तुम्हें कभी हिचक न हो।

सर्वत्र भगवद्दर्शन की चेष्टा करना, सभी कर्मों के अन्दर श्रीभगवान के मंगल हस्त का दर्शन करना, तथा प्रेम पवित्रता, सरलता और सत्य परायणता कभी तुम्हें न करें।

निन्दा, भर्त्सना और समालोचना को अविकृत चित्त से सहन करने के लिये सर्वदा तैयार रहो।

जो निन्दा करते हैं, भर्त्सना करते हैं और और तीव्र समालोचना करते हैं उन्हें शत्रु मत समझो। उनसे विद्वेष मत करो, प्रत्युत उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा प्रेम रखो।

निन्दा, भर्त्सना और समालोचना के द्वारा निन्दा भर्त्सना और समालोचना का जवाब मत दो। क्रोध रुक्षता तथा विद्वेष पूर्वक बातचीत मत करो। प्रेम के द्वारा विद्वेष को जीतो और मौन की सहयता से आत्मरक्षा करो।

यदि किसी के प्रति भी रुक्षता या विद्वेष-भाव जागृत हो तो उसमें अपने ही दोष और दुर्बलता का दर्शन करो।

"विवेकी प्रयतेताशु भवबन्ध विमुक्तये।"

ऋषिकेश

२४

ॐ

१ यदि तपस्या करना चाहते हो तो पूर्णतया निःसंग और अनपेक्ष होना ही पड़ेगा।

२ गृहस्थों के तो धन बल, जन बल आदि कितने ही प्रकार के बल या शक्तियाँ हैं। साधु के पास तो केवल तपोबल या भगवत्-बल ही होता है।

३ जब एकान्त में तपस्या करना असम्भव हो तब शास्त्र का संग और सत्-आलोचना की जा सकती है।

४ जब तपस्या में मन एकाग्र न हो तो दृढ़ता से तपस्या करना ही पुरुषार्थ है।

५ 'पुरुषार्थ की पूर्ण परिणति ही निर्भरता है।'

६ 'निर्भरता होने पर फिर प्रश्न कहाँ ?'

७ वज्र गिरने पर भी चातक बादल की आशा नहीं छोड़ता। यदि तुम्हारा भी श्रीभगवान के प्रति ही सच्चा प्रेम है,

तो तुम पर दुर्दशा का वज्र गिरने पर भी, तुम उन्हें किस तरह छोड़ोगे ? चातक की नाईं एकनिष्ठ होकर उनकी ही ओर दृष्टि रखो। उनके अतिरिक्त और कौन कर्त्ता है ? चातक की भाँति एकान्तिकता से उन्हें ही अवलम्ब बनाओ। उनके सभी दानों को प्रेम तथा सन्तोष के साथ स्वीकार करो।

८ क्या माता, पुत्र की सरल एवं दुःखपूर्ण पुकार की उपेक्षा कर सकती है ? एक दो बार, या दो एक दिन, सम्भवतः उपेक्षा भी कर लेगी, परन्तु बहुत बार या बहुत दिन तक अवश्य नहीं कर सकेगी। उन्हें ही पुकारते रहो।

९ माता पर ही तो हमारा सोलह आने दावा (अधिकार) है, जो आवश्यक है, उसके लिये उससे ही याचना करनी होगी।

१० माता की नाईं और कौन है जो हमारे सारे आचरणों को सहन करके, क्षमा करके हमारी प्रार्थना को पूर्ण करने में तथा अभाव को मिटाने में सर्वदा ही तैयार रहे ?

११ हमें शान्ति प्रदान करने में माँ सर्वदा ही समर्थ हैं।

१२ 'ददामि बुद्धियोगं तम्' 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—तब फिर भय क्या है ? चलते रहो। चलते हुए भी तुम्हें प्रकाश मिलेगा। क्रमशः बढ़ता हुआ वह प्रकाश तुम्हारे मार्ग को उज्वलतर तथा जीवन को मधुरतर करेगा। उधार ली हुई लालटेन की क्या आवश्यकता है ? दूसरे के मुख द्वारा तीखा खाने से क्या लाभ ? चाहिये अन्दर की वस्तु, चाहिये प्रत्यक्ष, चाहिये सम्पूर्ण संशयों से निर्मुक्त विश्व को ग्रास करने वाली विज्ञान ज्योति।

१३ 'जैसी श्रद्धा होती है वैसा फल होता है।'

१४ 'मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिसे तीव्र व्याकुलता उत्पन्न हुई है, उसको मुक्ति मिलने में क्या देरी हो सकती है ? तीव्र इच्छा की गति को रोकने में कौन समर्थ है ?'

१५ 'शुक्ल ध्यान परायण: ।'

१६ 'भोलानाथ सदाशिव के मस्तक पर सांप की कुण्डलिनी विराजमान है; वे नित्यानन्द, भूमानन्द एवं परमानन्द में मस्त हैं ।'

१७ 'शिष्टान्नमीशार्च्यनमार्य सेवां,
तीर्थाटनं स्वाश्रम-धर्म निष्ठाम् ।
यमानुरक्ति नियमानुवृत्ति,
चित्त प्रसादाय वदन्ति तज्ज्ञाः ।।'

१८ योग्यता प्राप्ति के लिये संयम की आवश्यकता है,–देह के संयम, इन्द्रियों के संयम और मन के संयम की । मन के संयम पर ही सम्पूर्ण संयम प्रतिष्ठित है । विचार, न्याय-निष्ठा तथा लक्ष्य के प्रति प्रबल अनुराग के बिना संयत होना बहुत कठिन है । संयत होने के लिये तितिक्षा की भी आवश्यकता है । अभ्यास के द्वारा सभी सिद्ध हो सकता है । आग्रह रहने से अभ्यास के विघ्न सुगमता से हटाये जा सकते हैं (दूर हो जाते हैं)।

२५

ॐ

१ जितनी अधिक बातचीत करोगे, उतनी ही झूठी और अनुचित बात बोलने की सम्भावना अधिक बढ़ेगी।

२ हास्य विनोद में भी अन्याय (अनुचित) करना संगत (उचित) नहीं है।

३ विद्या प्राप्त करके मौन रहना एक बहुत बड़ी सिद्धि है। यह बहुत-सी सिद्धियों की अपेक्षा बढ़कर है।

४ जिसमें वैराग्य है, उसका मन दूसरों की समालोचना करने को क्यों इच्छुक होगा ?

५ साधक के कर्म ही उसकी परीक्षा हैं। साधक कितना उन्नत है, इसका परिचय उसके कर्मों द्वारा ही मिलता है।

६ क्या भगवान इतने मूर्ख हैं कि उन्हें कर्मों द्वारा चकमा (धोखा) देकर प्रसन्न कर लोगे ?

७ जप करते हुए शरीर के परमाणु मन्त्र का आकार धारण कर लेते हैं।

८ श्रद्धा के साथ एवं विधिपूर्वक तीर्थ-भ्रमण करने से चित्त शुद्ध होता है, धर्माचरण में उत्साह बढता है, तमोगुण कम हो जाता है, संकीर्णता तथा मानसिक दुर्बलता कम होती हैं और ज्ञान तथा प्रफुल्लता की वृद्धि होती है।

९ ईश्वर-कृपा अहैतुक है, उस पर किसी का वश नहीं है, जबरदस्ती नहीं है, और दावा (अधिकार) भी नहीं है। उसे कौन, कब और कैसे प्राप्त करेगा, इसका भी कोई निश्चय नहीं अर्थात् यह भी निश्चित् नहीं है।

१० शरीर-मन की सम्पूर्ण शक्ति को सामर्थ्य के अनुसार संगृहीत करके कल्याण के मार्ग में लगाओ। उसके लिये शुभ गुणों को प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है—यह मन प्राण से समझने की चेष्टा करो। शुभ-गुण सम्पादन किये बिना काम नहीं होगा, यह निश्चय रखो। गुणवान् होने के लिए यथाशक्ति चेष्टा करो। जो लोग गुणवान हुए हैं, उनके जीवन के विषय में विचार करो। श्रीभगवान से प्रार्थना करो जिससे तुम शुभ-गुण सम्पन्न हो सको। श्रद्धा और शुभेच्छा, कभी मत त्यागना।

११ जीवन में संग्राम द्वारा ही उन्नति प्राप्त करनी चाहिये। समुद्र-मन्थन से ही अमृत की उपलब्धि होती है।

१२ परामर्श लेने और बुद्धि को स्थिर करने में ही समय व्यतीत हो जाता हैं; कर्म तो किया ही नहीं जाता।

१३ अनेक व्यक्ति धर्म के बहाने बहुत ही व्यर्थ आडम्बर की सृष्टि करते हैं।, वह सब अनावश्यक है। धर्म तो अन्दर की वस्तु है।

१४ 'मैं दुर्बल हूँ मैं अपवित्र हूं' इस प्रकार की भावनायें मन को दुर्बल बना देती हैं। 'मैं कर सकता हूँ' और 'मैं कर सकूंगा'—इस प्रकार की भावना का पोषण करना चाहिये। तेज, शौर्य, उद्यम, तथा उत्साह को नहीं त्यागना चाहिये।

१५ दूसरे पाँच प्रकार का कर्मों का कर्त्ता तो मैं हूं और धर्म-लाभ करने के समय 'जो भगवान करे' ऐसा सोचने से भाव के घर में चोरी होती है अर्थात् भावशुद्धि नहीं रहती।

१६ कभी राम का उलाहना और कभी अवसर पड़ने पर श्याम की दोहाई—इससे कार्य सिद्ध नहीं होता। एक सिद्धान्त या आदर्श (Principle) निर्णय कर लेना चाहिये और उसकी सर्वदा रक्षा करनी चाहिये।

१७ जिसे दस व्यक्तियों का मनोरंजन करना पड़ता है, उसको भगवान पर (में) मन रखने के लिये अवसर कहाँ है और योग्यता भी क्या है ?

१८ मन स्वस्थ ·हने पर शरीर भी कुछ अंश में स्वस्थ रहता है।

१९ 'आचारपरमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च'।

२० शौच दो प्रकार का है; मिट्टी और जल के द्वारा वाह्य शौच और भाव-शुद्धि के द्वारा आन्तरिक शौच। दोनों ही की आवश्यकता है।

२१ विष्णु पुर में (पश्चिम बंग के एक शहर में) लाल बांध के ('लाल' नामक एक हृद के) तट पर एक मन्दिर में श्री-राधा-माधव नामक श्रीकृष्ण विग्रह है। उस मूर्ति का पैर

टूट जाने पर उसको पानी में प्रवाहित करने का प्रस्ताव हुआ। तब ठाकुरजी ने राजमहल में स्वप्न दिया कि तेरे पुत्र का पैर टूट जाने पर, क्या तू उसे फेंक देगा? फिर मुझे ही क्यों फेंकता है? अतः प्रवाह नहीं किया गया। भग्नदशा में ही मूर्ति अब तक मन्दिर में है। पूजा भी चल रही है। देखो, मरने की इच्छा ठाकुरजी को भी नहीं होती।

२६

ॐ

१ प्रातः, मध्यान्ह एवं सायँ सन्ध्या के समय ब्राह्मी वैष्णवी तथा रौद्री रूप का स्मरण करना चाहिये। गम्भीर रात्रि में हृद्बिन्दु और ब्रह्मरन्ध्र में अरूपा सन्ध्या का चिन्तन किया जाता है। पश्चात् शिव बोधात्मिका परमा सन्ध्या की व्यवस्था है।

२ वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये ही हैं परब्रह्म, जीव, मन और अहंकार।

३ मन्त्र ध्यान :— (१) स्थूल शब्द मय (बाह्य) रूपा, (२) सूक्ष्म ज्योतिर्मय (चिन्तनमय) रूप (३) चिन्तन-रहित पर-रूप।

४ विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म, और छल धर्म (कपट धर्म) अधर्म की भाँति इनका परित्याग करना चाहिये।

५. 'तत्त्वावगत्यातु विना विमुक्तिः ।
न सिध्यति ब्रह्म सहस्र कोटिषु ।।'

"तत्व के (ब्रह्मतत्व के) अनुभव विना ब्रह्मा के सहस्र कोटि युग बीतने पर भी 'निर्वाण मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती ।"

६ आलस्य, अनुसन्धान रहित, भय तथा वासना—ये समाधि स्थिति में विघ्नरूप हैं ।

७ मैं देहत्रय से (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणरूप) तीन देह से अलग शुद्ध चैतन्य स्वरूप परब्रह्म हूं ।

८ मैं सम्पूर्ण संस्कारों से रहित, सब प्रकार के भेदों से अनीत, एवं सारी चिन्ताओं से मुक्त पर-ब्रह्म हूं !

९ मेरा कोई नाम, रूप, लिंग, एवं अवस्था नहीं है; मैं सम्पूर्ण वाक्यों से अतीत परब्रह्म हूँ ।

१० जो असन्तुष्ट हैं, वे ही दरिद्र हैं ।
"सन्तोषो नन्दनं वनम्" ।

११ "याद्दशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्दशी

१२ चाहे उपनयन के द्वारा द्विज बनो, या दीक्षा के द्वारा त्रिज; जब तक मन साधु नही बनेगा; तब तक कोई कुछ भी नहीं है, सब कुछ व्यर्थ ही है ।

१३ सभी प्रकार से कुसंग का सर्वथा परित्याग करना चाहिये । पवित्रता के द्वारा मन को परिपूर्ण रखना चाहिये ।

१४ श्रीमद्‌भागवत में कहा है:—
'श्रीभगवान के सगुण तथा निर्गुण—दोनों भाव ही दुर्बोध्य हैं । यह बात सत्य है कि कोई-कोई संयत चित्त वाले

योगी निर्मल की हुई सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से निर्गुण तत्व को समझ भी सकते हैं। परन्तु यदि कोई निपुण व्यक्ति आकाश के सारे नक्षत्रों की तथा ब्रह्माण्डों के समस्त परमाणु पुञ्जों की गिनती करने की महती शक्ति भी प्राप्त करले तो भी वह अनन्त महिमामय सगुण तत्व के अन्दर अधिक गम्भीरता से अग्रसर नहीं हो सकेगा—उसे पूर्णतया जान लेने की बात तो दूर रही।

१५ उसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा है :—

"कोई-कोई धीमान् व्यक्ति ही सर्व कर्म की निवृत्ति के द्वारा अनन्त परमात्मा के निर्गुण निर्विकल्प तथा चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; तथापि बहुतों के लिये तो वह दुःसाध्य ही है। सर्व साधारण के लिये तो श्रीभगवान के लीला-विलासमय सगुण स्वरूप का सेवन ही सुगम एवं आवश्यक है।

ऋषिकेश

तृतीय भाग



२७

ॐ

नारायणेषु !

जिनसे ये सब प्रकाशित हैं, जिनकी सहायता से मन तथा इन्द्रियों के सहित सबको जाना जा सकता है, जो सर्वदा और सर्वत्र विद्यमान हैं, उन सर्वसाक्षी, सर्व-द्रष्टा-सर्वावभासक, सर्वकर्त्ता, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी एवं सर्व कारणों के मूल कारण को ही ब्रह्म चैतन्य समझो। उस वाक्यातीत चैतन्य-स्वरूप को विचार की सहायता से समझने की चेष्टा करो।

× × ×

जो आत्म-विस्मृत नहीं होता, जिसका लक्ष्य स्थिर रहता है, देह को तृप्त करना ही जिसके जीवन का ध्येय नहीं है, उसका क्या डर है? वह विचार परायण व्यक्ति अवश्य अपने मार्ग को तय कर सकेगा।

जो कुछ सांसारिक कर्म करना पड़ता है, उसे भगवत्-प्रीति के लिये तथा कर्त्तव्य समझ कर, निष्काम भाव से और भगवान् के दासरूप से करने का ही शास्त्र आदेश देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रकार से लौकिक कर्मों का सम्पादन करना तुम्हारे लिये अनायास साध्य नहीं होगा। परन्तु ऐसी चेष्टा करने में क्या हानि है? जब तक कर्म करना ही है, तब तक (ठीक-ठीक कर सको अथवा न कर सको) इस प्रकार की भावना रखने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिये। जो अकर्त्तव्य है, उसे छोड़ने की चेष्टा भी यथासम्भव करनी ही चाहिये।

शिवमस्तु। इति।

काशीधाम

१२-६-'२३

२८

ॐ

नारायणेषु !

वास्तव में तो चञ्चलता के साथ भी तुम्हारा क्या सम्पर्क है ? तुम तो सर्वदा ही निःसंग, निर्लिप्त, निर्विकार, उदासीन आत्मा हो। कर्म और भाव के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? जैसे देश-देशान्तर के वृक्षों के पत्तों का हिलना, जैसे आकाश के विभिन्न स्थानों में विभिन्न दिशाओं में पक्षियों का उड़ना, जैसे नदी के भीतर नाना प्रकार से मछलियों का तैरना, और जैसे अन्यान्य शरीर एवं मन की चञ्चलता भी तुम्हें स्पर्श नहीं करती, वैसे ही इस शरीर के स्पन्दन भी तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकते। उनकी ओर तुम क्यों ध्यान देते हो ? तुम अपने आप में ही रहो। तुम अपने आप

में न रह कर भी क्या कर सकते हो ? और है भी क्या, जिसमें तुम रहोगे ? और तुम्हारा रहना या न रहना भी क्या है ? बस, मौन ही तुम्हारा अपने आप में रहना है। आज इतना ही।

शिवमस्तु ।

ऋषिकेश
२५ चैत्र, शनिवार

२६

ॐ

नारायणेषु !

एक व्यक्ति की दुर्बलता अन्य दस व्यक्तियों की हानि भी कर सकती है।

एक साधु की असाधुता का कलङ्क दूसरे अनेकों साधुओं पर भी थोड़ा-बहुत पड़ता है।

जो साधु हो, जो साधु के वेष में रहे, उसे साधुत्व की मर्यादा की पूर्णतः रक्षा करनी उचित है।

यदि मन कभी दुर्बलता के वशीभूत होकर उस मर्यादा को तोड़ना चाहे, तो ध्यान रखना, मन की बातों पर शरीर राय (सम्मति) न दे।

मन के अधीन रहकर मन का दमन नहीं हो सकता। मन को दमन करते-करते ही मन का दमन होता

है। मन का दमन करने का उपाय है—मन को दमन करने की इच्छा और उसके लिये यथासम्भव चेष्टा करना।

आज ज्यों ही थोड़ी दुर्बलता प्रकट करोगे, ज्यों ही प्रलोभन के सामने थोड़ा सर झुकाओगे, बस उसी सुयोग को पाकर कल या परसों प्रलोभन तुम्हें फिर आकर्षित करने की तथा शैतान चिरकाल तक तुम्हें दबाये रखने की चेष्टा करेगा।

शैतान के आक्रमण पर रोक लगाने के लिये आज जो सामान्य आयोजन या थोड़ी-सी शूरता प्रकट करोगे, वे ही ढाल रूप में परिणत होकर भविष्य में तुम्हारी रक्षा करेंगे, और कल उतना ही शैतान तुम पर पुन: आक्रमण करने में हिचकिचायेगा।

जो साधु है उसका भगवान और तपस्या के सिवाय अन्य किसी के साथ क्या सम्बन्ध? देह से वियुक्त होना ही जिसकी साधना हैं, सर्वदा स्वरूप में स्थिति-लाभ करने की चेष्टा करना ही जिसका कर्तव्य है, उस सर्वत्यागी प्रयत्नशील साधक का मन जगत् के लिये क्यों चञ्चल होगा?

जिस दिन साधु का वेष लिया, उसी दिन नया जन्म हो गया—ऐसा सोचना चाहिये और पूर्व परिचित जगत् का उसके पहिले के जन्म-जन्मान्तरों के परिचित जगत् की भाँति परित्याग कर देना चाहिये।

इस प्रकार से जीवन व्यतीत करना संभव है या नहीं—इसका चिन्तन और विचार करना चाहिये।

प्रयत्न एक ही लक्ष्य की ओर होना चाहिये न कि दोनों की ओर।

अभिमान के पङ्क में कितने काल तथा कितने जन्म तक गोते खाये ? यदि अब भी वह कीचड़ इतना मीठा, इतना मधुर और इतना सुहावना मालूम होता है तो सोच कर देखो, शुभ दिन कितनी दूर है ।

जो अच्छे हुए हैं और जो अच्छे हो रहे हैं उनके साथ अपनी तुलना करो । उनके दृष्टान्त के द्वारा अपने मार्ग को पहिचान लो ।

शिवमस्तु । इति ।

कलकत्ता
१६-६- '२२

३०

ॐ

नारायणेषु ।

अब तुम्हारी तपस्या की बात करता हूँ। तुम्हें तीन प्रकार की तपस्या (साधना) बतलाई थी :—

(१) भृकुटि के बीच में ···· ···· ध्यान करना। कभी-कभी इच्छा होने पर सहस्रार में भी ध्यान कर सकते हो। भृकुटि से ऊपर सहस्रार तक किसी भी स्थान पर मन को एकाग्र करने से किसी भी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं रहेगी।

सहस्रार में ध्यान करने से तो किसी-किसी विषय में शुभफल भी प्राप्त हो सकता है। एक बात है—यदि कभी सहस्रार में मन को एकाग्र करने के कारण सिर में दर्द हो जाय या दुर्बलता मालूम हो, तो फिर सहस्रार में ध्यान नहीं करना चाहिये। साधारण व्यक्तियों के लिये भृकुटि की अपेक्षा

सहस्रार में मन को एकाग्र करना अधिक सुगम है। कभी-कभी प्रश्वास में भी मन की एकाग्र का अभ्यास कर सकते हो; परन्तु स्मरण रखना—भ्रूमध्य या उससे ऊपर का स्थान ही साधारणतया अवलम्बन करने योग्य है।

ध्येय वस्तु को ज्योतिर्मय कल्पना करनी चाहिये। वह थोड़ी, छोटी या बड़ी है इस विचार में समय नष्ट नहीं करना। सोलह आने मन एकाग्र हुआ या चौदह आने—इसका विचार भी नहीं कहना चाहिये। एकमात्र ध्येय वस्तु को ही देखते रहो। जितनी भली प्रकार से और जितना तन्मय होकर देखना सम्भव हो, देखो।

इस दर्शन के फल स्वरूप आत्म-ज्योति (ज्योतिषां ज्योतिः) का दर्शन होने की सम्भावना रहेगी। (भ्रूमध्य ही आत्मदर्शन का स्थान है)। इस उपाय के द्वारा आत्मदर्शन होने के पश्चात् क्रमशः वह दृष्ट आत्मा ही अपने पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करेगा। इसके अतिरिक्त व्यापक आत्मा को दूसरे उपायों से भी जाना जा सकता है, उसके लिये :—

(२) **व्यापक चिन्तन।** "मैं" सर्वव्यापी ज्योतिर्मय, परिपूर्ण चैतन्य सत्ता हूँ। देश-हीन, काल हीन, वस्तु-हीन एक समरस 'मैं' विराट् अखण्ड 'मैं'—अचल, अटल 'मैं', अपने गाम्भीर्य में स्वयं ही विराजमान हूँ 'ब्रह्मास्मि'।

इस व्यापक भाव के चिन्तन के समय यदि विक्षेप हो, यदि मन विषयाकार धारण करे, तो चाहे किसी भी विचार द्वारा हो (विक्षेप की वस्तु को ब्रह्ममय करके या जैसे अच्छा लगे) प्रत्याहार के द्वारा मन को फिर ब्रह्म समुद्र में डुबा दो।

ऊपर जिन दो प्रकार के साधनों का उल्लेख किया गया है वे वास्तव में एक के ही इधर और उधर के दो पार्श्व हैं। पहिले जैसे लिख चुका हूं, प्रत्येक को सहायता से भीतर और बाहर परिपूर्ण आत्मदर्शन हो सकता है। 'जो आत्मा सर्वव्यापी, तथा सर्वत्र विराजमान है, उसी का भ्रूमध्य में दर्शन करता हूँ। जो यहाँ है, वही वहाँ सर्वत्र भी है। वह एक तथा महान् है।

यदि ऐसा विचार उठे कि एक आत्मा ही तो है; फिर शरीरादि कहाँ हैं? भ्रूमध्य भी क्या है? वहाँ किसका ध्यान करना है? तो ऐसी स्थिति में तुम्हारे लिये भ्रूमध्य में ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। ऊपर लिखे एकमात्र द्वितीय प्रकारके व्यापक ध्यान से ही इष्ट सिद्धि होगी। उस प्रकार की स्थिति में—जैसे सर्वत्र एक अखण्ड ज्योतिर्मय सत्ता का ध्यान करो, वैसे ही जब जिस ओर मन जाय, प्रत्येक परमाणु में भी ब्रह्मत्व का ही दर्शन करो। 'जब ब्रह्म ही सब स्थानों को (देशों को) पूर्ण करके स्थित है तब और कुछ कहाँ से आवेगा? और कुछ कहाँ पर रहेगा? इत्यादि।

एक बात है। ब्रह्मचिन्तन या 'अहं ब्रह्मास्मि' भाव को कर्म के अन्दर भी स्थित रखने की चेष्टा करनी चाहिये। 'मैं' निर्विकार, निर्लिप्त महाज्योति हूं।

तुम्हारा तीसरा साधन 'Vacancy Practice' अर्थात् मन को खाली या संकल्प विकल्प से रहित करने की चेष्टा है। इसमें मन पूर्णतया मौन रहेगा। "ध्यानं निर्विषयं मन:" अपराह्न में या और किसी उपयुक्त समय पर इस अभ्यास को कर सकते हो। इस अभ्यास के फल स्वरूप निस्तरंग मन को भेदन करके स्वतः ही विमल आत्म-ज्योति

प्रकाशित होगी, और वह क्रमशः विश्व को ग्रास करके अपनी महिमा में आप ही विराजमान होगी ? ज्योति के ऊपर ज्योति, चैतन्य के ऊपर चैतन्य-परिपूर्ण ब्रह्म सत्ता है।

पहिले की दो Practice या अभ्यास मानो Positive या प्रयत्न साध्य हैं, तीसरा Negative या यत्नसाध्य नहीं (अयत्नसाध्य) है। यदि मैं मौन हो जाऊँ, तो वह स्वभाव से ही आता है। परन्तु तीसरा Negative (निषेधात्मक) होने पर भी दूसरे प्रकार के अभ्यास से इसका विरोध होने की सम्भावना नहीं है।

तीसरे अभ्यास में श्रम कम होता है। जब तपस्या करते हुए मन थक जाता है तथा पहले या दूसरे अभ्यास को करने की इच्छा नहीं रहती, तब सुविधा मालूम हो तो तीसरा अभ्यास किया जा सकता है। यह नियमपूर्वक न करने से भी कुछ हानि नहीं होगी। किसी दिन इसका अभ्यास बिल्कुल न किया और दूसरे दिन तीन-चार बार कर लिया। परन्तु नियमपूर्वक करने से फल अधिक मिलेगा—यह बात निश्चित है।

यहाँ तक जिन तीन अभ्यासों की बात कही गई है, तुम इन तीनों का ही अभ्यास न करो, तो भी काम हो सकता है। किन्हीं भी दो या एक का ही अभ्यास करने से भी काम चलेगा। यदि त्याग करना ही हो तो जिसका अभ्यास कम है, जिसे कम पसन्द करते हो, उसको ही त्यागना चाहिये। पहिले उपाय का अभ्यास करना कुछ सुगम है, द्वितीय से विक्षेप शीघ्र निवृत्त होता है और तीसरे से मन अधिक शान्त होता है।

यहाँ पर जिन साधनों के विषय में लिखा है, इनमें से तीनों का ही अभ्यास करो, या दो का, अथवा एक में ही दृढ़ रहो, अन्तिम फल तो एक ही है। सम्भवतः तुम प्रथम और द्वितीय का अभ्यास कर रहे हो। वर्त्तमान में उसको ही करते रहना ठीक है।

यहाँ जो अन्तिम फल के विषय में लिखा वह तपस्या का ध्येय है, वह एक साथ नहीं आता। बहुत अवस्थाओं से पार होकर वहाँ पर पहुँचना होता है। सड़क पर लगे मील के पत्थरों को ही गन्तव्य स्थान समझ लेने पर धोखा खाना पड़ता है। इसलिये विचार की आवश्यकता है, और सावधान रहना चाहिये। इसके लिये धैर्य, तितिक्षा तथा वैराग्य की आवश्यकता है।

बातें तो बहुत लिखी हैं किन्तु फल की प्राप्ति तो कार्य में तत्पर रहने से ही होगी। जो हो रहा है, वह अच्छा ही है।

कभी पुस्तक पढ़नेकी इच्छा हो तो वेदान्त ग्रन्थ विचार सकते हो।

तपस्या में चार प्रकार के विघ्न हैं। लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वादन। नीचे के स्तर के आनन्द में मग्न हो जाना 'रसास्वाद' विघ्न है, उसके द्वारा ऊपर चढ़ने की शक्ति और चेष्टा शिथिल हो जाती है। विक्षेप न होने पर भी जब राग-द्वेष के सूक्ष्म संस्कारों के कारण मन ध्यान में एकाग्र नहीं होता—यह 'कषाय' है। अन्य सब स्पष्ट हैं ही। इन सबको यत्न के साथ हटाना पड़ता है। संस्कारों को

हटाना ही पड़ेगा। हम जो कुछ देख और सुन रहे हैं, वह सब संस्कारों के ही अधीन है।

इतना ही। शिवमस्तु।

× × ×

ऋषिकेश
१८-२-'२५

३१

ॐ

नारायणेषु !

इतनी 'हाय ! हाय !' क्यों कर रहे हो ? वहाँ जाकर तपस्या आरम्भ करते ही 'हाय ! हाय !' करना आरम्भ कर दिया ! यदि कूद-फांद करके नौका को डुबा दोगे तो फिर पार कैसे जाओगे ? मन तो सदा ही चञ्चल है। यदि तुम उस चञ्चलता के वेग को और भी अधिक बढ़ा दोगे तो शान्त मना होने का क्या उपाय रहेगा। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे मन की बत्ती पर पवन का झोंका कम लगे। पवन जितना अधिक लगेगा, वस्तु को प्रकाशित करने की सामर्थ्य भी उतनी कम हो जायेगी। अतः 'हाय ! हाय !' छोड़ कर काम में लगे रहो। चाहे कुछ हो, चाहे कुछ भी आवे और मन चाहे कैसे ही रहे, तपस्या में बाधा नहीं होनी चाहिये। स्वेच्छा से कभी भी मन को चञ्चल मत होने दो।

ऐसे कितने बड़े तपस्वी हो गये हो? कितने समय तक तपस्या की है? तपस्या के लिये कितना स्वार्थ त्याग किया हैं; अभी न कुछ किया है और न कुछ बना ही है; —तो भी ऐसे हो गये हो? रातों रात में समाधि न लगने पर या दो चार दिन के अन्दर ही कार्य में सफलता न मिलने पर 'तुरन्त हाय! हाय!' करने लगे। सचमुच यदि बहुत कठोर तपस्या करते हुए अधिक समय बीत जाता तो न जाने क्या करते; कितने ही मनुष्य तो न जाने कितने क्लेश उठाकर कितने लम्बे समय तक तपस्या में लगे रहते हैं। और मन का दमन करने के लिये कितने प्रकार की चेष्टायें भी करते हैं; तो भी वे धैर्य और अध्यवसाय के साथ उसी में अग्रसर होते रहते हैं। तुम जो अधीर हो रहे हो, सो क्या तुम्हारा दावा (अधिकार) इतना अधिक है।

तुम जितनी 'हाय! हाय!' करोगे वह तुम्हारे मन की दुर्निग्रहता को और भी अधिक बढ़ा देगी। चञ्चलता को, तथा दुर्बलता को अवसर ही नहीं देना चाहिये। वे आवें तो आने दो, तुम अपना कार्य करते रहो; इसमें चाहे जितने दिन लगें, लगने दो। फल प्राप्ति के लिये अधिक व्याकुल मत हो। तपस्या से बढ़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है। इसलिये तपस्या करनी ही चाहिये, किसी रिश्वत के प्रलोभन से नहीं। जल्दी जल्दी तपस्या समाप्त करके क्या, और कुछ करना है? समय को नष्ट नहीं करना चाहिये और न शक्ति को ही नष्ट करना चाहिये, व्याकुलता की भी आवश्यकता है ही। यह सभी सत्य है; परन्तु अधीर होकर यदि 'कब क्या फल मिलेगा?', 'इतने दिन में भी कुछ नहीं हुआ!' 'इतने परिश्रम से भी जब नहीं हुआ, तब किस समय क्या होगा, क्या ठिकाना

है ?' इस प्रकार के विचार करते रहोगे, तो फल प्राप्ति के स्थान में उल्टे समय और शक्ति ही नष्ट होंगे।' अब तक मुझमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ।' 'मैं अब तक संयत नहीं हो सका।' इस प्रकार से व्याकुल होने का अभ्यास करते हुए मन क्रमशः दुर्बल और उद्यमहीन बन जायेगा। उद्यम तथा उत्साह, तेज तथा शौर्य इन सबकी सहायता से ही इस दुर्गम पथ को तय करना होगा। मन इतनी सीधी वस्तु नहीं है कि अनायास इसे पालतू बना सकोगे। इसे वश में लाने के लिये बड़ी वीरता की आवश्यकता है। इसके लिये अक्लान्त कर्मनिष्ठा, धैर्य एवं अध्यवसाय अपेक्षित हैं। तथा अनुराग और निपुणता के साथ कार्य में लगे रहना आवश्यक है। रातों रात में बड़ा आदमी बन जाने की इच्छा मत करो। ऊपर से भगवत्-कृपा और नीचे से अपना पुरुषार्थ—इन दोनों की ही सहायता से अग्रसर होना पड़ेगा।

तरंग के पीछे तरंग, या कभी तरंग के ऊपर तरंग–यही इस संसार समुद्र का नियम है। जो इसमें स्थिर रह सकता है और धैर्य परायण होकर अपने कार्य में लगा रह सकता है, वही तरंगातीत, शान्तिमय गम्भीर-तल-देश में डूबने की आशा कर सकता है। अन्यथा केवल कूद-फांद, केवल हा-हतोस्मि, केवल 'आ हा-ओ हो!' और केवल अशान्ति हाथ लगेगी। डरो मत। हताश मत हो। चलते रहो। जैसा कर सको और जितनी सामर्थ्य हो, तपस्या करते रहो। दुर्दिन के बादल चिरकाल तक नहीं रहेंगे। ऐसा शुभ दिन आवेगा (अवश्य आवेगा), जब तुम वर्त्तमान जीवन को स्मरण करके भी आनन्द अनुभव करोगे। विघ्नों के साथ लड़ाई करके जो

जितना स्थिर रह सकता है, वह उतना ही वीर है, उसकी शक्ति का उतना ही विकास होगा।

झंझावात से आकुल समुद्र के वक्षःस्थल पर नौका में बैठकर चलने वाले यात्री के समान जो साधक जितना चञ्चल होता है, उसकी विपत्ति और असुविधायें भी उतनी ही अधिक होती हैं। अतः श्रद्धा, उत्साह, धैर्य और गाम्भीर्य को प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ते रहो। चञ्चलता रूपी कण्टक के द्वारा गन्तव्य मार्ग को और अधिक आवृत मत करो। आगे बढ़ते हुए ही, संग्राम करते हुए ही आलोक प्राप्त करोगे। शान्ति का पवन प्रवाहित होगा और अचानक अनायास ही नये देश में पहुँच जाओगे। डरो मत, सोचो मत। चलते रहो। शान्त मन से तपस्या करते रहो। मन में जितनी कम तरंगें उठेंगी उतना ही अच्छा है। सावधान होकर चलना। सर्वदा अपने पर दृष्टि रखना, कोरी दिखावट से काम नहीं बनेगा यह याद रखना।

शिवमस्तु। इति!

'श्रीनगर, काश्मीर'

१२-८'-२४

३२

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारे पत्र का विस्तृत उत्तर देना इस समय सम्भव नहीं होगा। मैं किसी-किसी आलोच्य विषय में—जैसा कि श्रीशंकराचार्य के मतवाद के विषय में तुम्हारे साथ पूर्णतया सहमत नहीं हूं, परन्तु इस समय तुम्हें एक 'Yes, sir' या 'हाँ जी' कहने में आपत्ति नहीं भी हो सकती है।

इस विचित्र सृष्टि में—जहाँ कोई भी दो वस्तु ठीक एक प्रकार की नहीं होतीं, नियम बनाना या श्रेणी विभाग की चेष्टा केवल हमारे समझने की सुगमता के लिये है और वह अवश्य ही बुद्धि के व्यायाम का परिचायक भी है, परन्तु वह स्थूल विचार में ही सम्भव हो सकती है। स्थूल दृष्टि से—खुली आँखों से जहाँ एकता दीख पड़ती है, सूक्ष्म दृष्टि की ऐनक के द्वारा वहाँ पर भी बहुत भेद प्रतीत होता हैं। एक

निपुणा गृहरमणी की तरह छोटे घर के भीतर ही सबको एक साथ बन्द न करके प्रकृति रानी की भाँति खुले घर में अलग-अलग जहाँ, जो शोभा देती है, सजाकर रखना क्या अशोभन होगा ? हाँ, यह भी सत्य है, कि इकट्ठा करना भी प्रकृति का एक नियम है।

आजकल बंगदेश के प्राइमरी विद्यालय में पहिले अक्षर योजना, फिर मात्रा लिखी जाती हैं। पहिले इसके विपरीत नियम था। प्रथम मात्रा उसके पीछे अक्षर योजना। पहिले भी, जैसा कि अब भी है—इन दोनों के पीछे 'नाम' था 'नाम' पर चढ़ने से ही दोनों मिल जाते हैं। परन्तु उसके पहिले मार्ग में पार्थक्य है—किसी को जो पहिले है, दूसरे के लिये वही पीछे होता है। पूर्वकाल में दशमी श्रेणी में जिस Geometry (रेखागणित) को पढ़ाया जाता था, उससे वर्तमान समय के Matriculation Geometry (दशमी श्रेणी की रेखागणित) का arrangement (गठन प्रणाली) भिन्न है; परन्तु दोनों पुस्तकों को पूरा पढ़ने से एक ही प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। शंकर के विद्यालय में यदि पहिले 'मात्रायें सिखायी जायँ, और रामानुजके विद्यालय में पहिले अक्षर योजना सिखायी जाय तो ऐसी स्थिति में दोनों विद्यालयों की प्रत्येक श्रेणी के शिक्षाप्रद विषय में समता प्रतिपादन करने की चेष्टा क्यों की जाय ? प्रकृति की विशाल गोद में बहुत-सी विरोधी सन्तानों के लिये स्थान है।

शंकर मत के साधन-चतुष्टय सम्पन्न मोक्षाधिकारी को अधिकार प्राप्त करने के पहिले ही "क्षीयन्ते यस्य कर्माणि" या समस्त कर्मों को क्षीण करके 'परावर-विज्ञानी' होना पड़ेगा—यह स्वीकार करने की इच्छा नहीं

होती । 'विशते तदनन्तरम्' का अर्थ—'निर्व्युत्थान समाधि' स्वीकार कर सकता हूं, यदि समाधि, शब्द के द्वारा आसनबद्ध, स्थिरनेत्र प्रभृति उपाधियों के साथ समाधि के देश प्रचलित साधारण अर्थ को न मानो तो। जब 'तदनन्तरम्'—उस अन्तर शून्य में 'विशते', उस समय चिर-काल के लिये भेद पूर्णतया मिट जाता है। वह उस समय चिर-समाधि मग्न या समाधि स्वरूप बन जाता है। "समाधिर्नाम वैश्योऽहम्।" समाधि के लिये उसकी इच्छा या चेष्टा की आवश्यकता नहीं रहती, उसकी सन्धिपूजा कभी शेष नहीं होती ।

श्रुति, स्मृति और पुराणों के युग में जैसे ऋषि मुनिगण ज्ञान और कर्म के समुच्चयपूर्वक दोनों की सम्मिलित सहायता से पक्षी की भाँति अग्रसर होते थे, वर्तमान काल के योगी वैसे नहीं कर सकते हैं। इस समय 'ज्ञान के लिये ही कर्म हैं, ज्ञान और कर्म इकट्ठे नहीं किये जा सकते'—यह मत ही साधु समाज में प्रचलित है। यद्यपि Pre Buddhistic Time (बुद्ध जन्म के पहिले) और उससे परवर्तीकाल में सर्वदा ही दोनों प्रकारके साधक ही दिखाई पड़ते थे, तो भी ऐसा कहा जा सकता है कि पूर्वकाल में साधारणतया ज्ञान और कर्म इकट्ठे किये जा सकते थे और अब साधारणतया ऐसा नहीं होता ।

तुम्हारी उल्लेख की हुई सूक्ष्मादि अवस्थाओं में कर्म अवश्य किया जा सकेगा अथवा नहीं—इसका निर्णय नहीं हो सकता। प्रकृति तथा संस्कारों की भिन्नता के अनुसार कभी कर्म किया जा सकता है और कभी नहीं भी

किया जा सकता। पूर्वकाल में बहुत व्यक्ति कर सकते थे अब थोड़े लोग ही कर सकते हैं।

जहाँ पूर्ण ज्ञान है, वहाँ पर प्रकाश और अन्धकार की भाँति परस्पर विरोधी ज्ञान और अज्ञान नामक देवासुर की सम्भावना कैसे हो सकती है? और जो कुछ उत्तर चाहते हो उसके लिये "अपने अन्तः पुर में ढूंढ़ो।"

शिवमस्तु, इति।

कर्णवास।
२८-८-'२४

३२

ॐ

नारायणेषु !

काम, क्रोध प्रभृति मन के ही स्पन्दन, या मन के ही तरंग मात्र हैं। सारे स्पन्दनों को बन्द करके मन को शान्त कर सकने से ज्ञान-विज्ञान तथा आनन्द इन सबकी प्राप्ति होती है। मन को दमन करना या मन को शान्त करना ही साधक का कर्त्तव्य हैं। कोई कोई साधक एक ही साथ सारे स्पन्दनों का निरोध करने की चेष्टा करते हैं। और कोई सात्विक स्पन्दनों की सहायता से काम क्रोधादि राजसिक और तामसिक स्पन्दनों का निरोध करने की चेष्टा करते हैं। जब रज तथा तम को दमन करने के फलस्वरूप मन शुद्ध सत्वमय होता रहता है तब उसके लिये निस्पन्द स्थिति में जाना सहज और सुगम हो जाता है। मन का निरोध करने के लिये अनेकों

उपाय हैं। जैसे मनुष्यों की संख्या अगणित और मनुष्यों की प्रकृति और स्थितियाँ असंख्य प्रकार की हैं, वैसे मनोदमन के उपाय भी असंख्य हैं। जिसके लिये जो कार्यकारी हो सकता है उसके लिये उसी उपाय की व्यवस्था की जाती है। उसके अनुसार धैर्य के साथ चल सकने पर ही किसी समय मन को शान्त किया जा सकता है। किसी का रोग जैसे तीन दिन में ही निवृत्त हो जाता हैं, और किसी का तीन महीने में भी शान्त नहीं किया जा सकता, इस व्यापार में भी ऐसा ही होता है, कोई जल्दी और कोई विलम्ब में तपस्या का फल प्राप्त करता है। परन्तु अपनी अवस्था के अनुसार श्रद्धा के साथ कर्मों में लगे रहने से देर या सबेर में फल प्राप्ति अवश्य होगी। सर्वदा ही सतर्क रहना चाहिये। मन को दमन करने के लिये सर्वदा ही तैयार रहना पड़ता है। मन को कभी क्षमा नहीं करना चाहिये और न उसे आराम देना चाहिये। मन के द्वारा ही मन की चिकित्सा करनी पड़ती है। सर्वदा ही मन को सन्मार्ग में, संयम के मार्ग में, साधना के मार्ग में रखने की चेष्टा करनी चाहिये। इस कार्य को जो जितनी तीव्रता से कर सकता हैं, वह उतना ही जल्दी फल को प्राप्त कर सकता है। जो धीर गति से चलता है और जो विधिपूर्वक कार्य नहीं करता, फल प्राप्ति में उसके लिये बहुत विलम्ब होगा। जैसा काम वैसी ही मजदूरी मिलती है। इसलिये सर्वदा ही तीव्र पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिये। जिस निर्भरता की बात सुनी जाती है, वह भी एक प्रकार का पुरुषार्थ ही है। निर्भर करके रहना भी प्रयत्न पर ही निर्भर करता हैं। सबको निर्भरशीलता के ही मार्ग पर चलना नहीं होगा। यह मैं पहले भी कह चुका हूँ कि रोग के अनुसार औषधि है। तुम प्रबल पुरुषार्थ की सहायता से अग्रसर

होते रहो। सबको ही प्रार्थनादि के द्वार से ही प्रवेश करना होगा, ऐसा कुछ नियम नहीं है। वह मार्ग विशेष व्यक्तियों के लिये ही हैं। किसका मार्ग अच्छा, किसका बुरा; किसका सच्चा, किसका झूठा इन सब विचारों में अपने समय को नष्ट नहीं करना चाहिये। जो वस्तु तुम्हारे लिये अखाद्य तथा अयोग्य है वही दूसरों के लिये सुखाद्य और योग्य पथ्य हो सकती है। तुम जिस समय को इन सब विचारों में नष्ट करोगे, उसे यदि अपने निर्धारित कार्य को करने में लगाओगे तो कितने आगे बढ़ सकोगे। जिसका मार्ग निश्चित हो गया है, वह इन सब व्यर्थ विचारों में क्यों अपने समय को नष्ट करेगा ? वह तो सर्वदा केवल अपने मार्ग पर ही चलता रहेगा; ईधर उधर दृष्टि डाल कर भी नहीं देखेगा। 'प्रार्थना से क्या लाभ होता हैं' 'ईश्वर करुणामय या न्यायवान हैं'—इन सब विचारों की कुछ भी सार्थकता नहीं है। तुम्हारा कर्त्तव्य है मन को शान्त करना। उस कार्य के लिये तुम्हें जप ध्यानादि करना चाहिये। बस वही करते रहो। जब मन शान्त होगा और ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर सकोगे, तब सम्पूर्ण रहस्य को समझ लोगे। उसके पहले सिर में पसीना लाने से (व्यर्थ चिन्ता करने से) विशेष कुछ लाभ नहीं उठा सकोगे। इस समय जिस विषमता को देखकर सृष्टिकर्त्ता को अपराधी बनाते हो, ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वैसा नहीं करोगे। अतः जिस ऊँची स्थिति पर चढ़ने से स्वयं ही सारे रहस्यों को अनायास समझ सकोगे, वहाँ पर चढ़ने के लिये ही इस समय परिश्रम करो। यह परिश्रम शरीर का नहीं, मन का ही है, पहले ही कह चुका हूँ कि मन के द्वारा ही मन का दमन करना होगा। सुख और दुःख चाहे वस्तुतः हों या न हों, वर्तमान में तो तुम उनको अनुभव कर रहे हो, और वे

तुम्हारे मन को अशान्त भी करते हैं। प्रयत्न के द्वारा इन सुख-दुःखात्मक अनुभवों को निकालना ही होगा। निकालने के इस कार्य को करने के लिये विधिपूर्वक जप ध्यानादि करते रहो।

तुम्हें किसी शरीर (विग्रह) का ही ध्यान करना पड़ेगा—ऐसा कुछ नियम नहीं है, कोई साकार मूर्ति का ध्यान करते हैं और कोई निराकार सर्वव्यापी (जैसे आकाश या पवन) चैतन्यमय परमात्मा का जिसका जैसा विश्वास, जिसकी जैसी श्रद्धा, जिसकी जैसी प्रकृति। जब तक ज्ञान के राज्य में पहुँचा नहीं जाता तब तक लोग किसी विश्वास का आश्रय लेकर ही रहते हैं। कोई इस पर विश्वास रखता है तो कोई उस पर। तुम सोचते हो कि निराकार ठीक (सत्य) है और मैं सोचता हूँ साकार ही ठीक (सत्य) है। जो वास्तव में ठीक (सत्य) है उसे नहीं जानते। इसलिये अपने ध्येय को असल, और दूसरे के ध्येय को नकल समझकर वाद, वितण्डा, विचार और समालोचना आदि की सृष्टि करके मन को और भी अधिक अशान्त बना देते हो। अतः तुम जिस पर विश्वास रख सकते हो, उसका ही ध्यान, धारणा, चिन्तन करते रहो। दूसरे जिसका करते हैं या जो तुम्हें पसन्द न हो उसकी आलोचना बिल्कुल व्यर्थ है। जो अन्धे होकर भी अपने मार्ग को स्वयं ही पहचानना चाहते हैं, और जो अन्धत्व की निवृत्ति के लिये औषधि सेवन के पहिले ही आंखों से उस औषधि को देखकर केवल विचार द्वारा ही उसे पहचानने का प्रयत्न करते हैं, वे ही इस प्रकार के विचारों में प्रवृत्त होकर अपने समय को नष्ट करते हैं। परन्तु जो व्यक्ति डाक्टर पर विश्वास रखता है, वह सारे विरोधी कर्मों का परित्याग करके ठीक समय पर एवं नियमपूर्वक औषधि का सेवन करता है।

इसलिये कहता हूँ तुम भी दिन रात तपस्या में ही लगे रहो। जप और ध्यान इनमें से जब जो अच्छा लगे उसे ही करते रहो। इच्छा होने से जप और ध्यान इकट्ठे भी कर सकते हो। असली बात यह है कि चाहे जप ध्यान करो, या ब्रह्मचिन्तन में रहो, किसी भी प्रकार से मन को निरन्तर तपस्या में लगाये रखने की चेष्टा करते रहो। मनोनिरोध तथा लक्ष्यसिद्धि के लिये उसकी शक्ति असाधारण है। यह याद रखना।

ध्यान करते समय यदि किसी दिन जपादि न किया जा सके तो उससे कुछ हानि नहीं होगी। ध्यान अच्छी तरह न कर सको तो भी ध्यान छोड़ना मत। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

श्रीकाशीधाम
२४-१०'-२२.

★

३४

ॐ

नारायणेषु !

जीवन को उन्नत या अवनत करना यह पूर्णतया तुम पर ही निर्भर है। यदि तुम वास्तव में ही उन्नत होने की इच्छा करो और उसके लिये यथासंभव योग्य चेष्टा भी करते रहो तो तुम्हारी उन्नति में कौन रुकावट डाल सकेगा ? चाहिये उन्नत होने की आवश्यकता का ग्यान और उसके लिये तीव्र इच्छा। यदि वे हों तो प्रयत्न स्वतः ही होता हैं। बाहर से जितनी सहायता आवश्यक है, उसके लिये किञ्चित भी कष्ट उठाना नहीं पड़ता। वह तो ठीक समय पर अनायास ही मिल जाती है। भगवान सदा ही प्रहरी हैं। आवश्यकता के अनुसार सारे अभावों को पूर्ण कर देते हैं। इसलिये जिसको उन्नत होने की इच्छा है, उसे किसी भी कारणवश

निरुत्साह नहीं होना चाहिये। यह मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि उन्नत होना आवश्यक है, और उन्नत होना ही पड़ेगा— इस बात को पूरी तरह समझना चाहिये और उसकी धारणा दृढ़ मूल होनी चाहिये। उन्नत होने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है, वह तुममें प्रचुर मात्रा में है। जो महान् हुए हैं, वे पहिले भी तुम्हारे हमारे समान ही थे। वे जन्म लेते समय ही कुछ अपूर्व नहीं थे। विश्वास करो उनसे तुम्हारी शक्ति अल्प नहीं है। उन्नत होने के लिये जितनी चेष्टा करोगे और चेष्टा के फलस्वरूप जितने उन्नत होगे, उतना ही यह विश्वास दृढ़ मूल होगा। आत्म शक्ति तथा भगवत्कृपा पर यत्नपूर्वक श्रद्धा बढ़ाते रहो, शान्ति लाभ करना असम्भव नहीं होगा। प्रतिज्ञा के बल से सभी कुछ किया जा सकता है, पत्थर को भी कोमल बनाया जा सकता है। चिन्तन शक्ति का बल या वेग वाक्य और कर्म-शक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है। सच्चिन्तन करते रहो, मन से उन्नत होने की आकांक्षा करो, सद्विषय में मन को सदा नियुक्त रखो, देखोगे उसी चिन्तन के द्वारा अल्पकाल में ही तुम बहुत उन्नत हो गये हो। तुम्हारा प्रधान विघ्न तुम्हारी मानसिक दुर्बलता है। इस महा पाप को हटाओ। उत्साह तथा उद्यम के साथ काम में लगे रहो। जिस भगवान ने तुमको बनाया है, एवं जिस सर्वशक्तिमान् विधाता के ऊपर तुम्हारी रक्षा और परिचालन का भार है, वे निश्चय ही दुर्बल नहीं हैं, वे सर्वदा ही तुम्हारे जैसे जीव को उन्नत करने में पूर्णतया समर्थ हैं। उत्साह मत छोड़ो, निर्बल मत बनो एवं धैर्य से च्युत मत होओ। चलते रहो, शान्ति मिलेगी। शिवमस्तु! इति!

स्वर्गाश्रम।
१६-२'-२०.

३५

ॐ

नारायणेषु !

पत्र मिला। गीता का 'अनादिमत् परंब्रह्म ही वेदान्त का परब्रह्म है। 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि', इस प्रसंग में 'आत्मनि' शब्द के द्वारा 'प्रत्यगात्मा' या 'जीवात्मा' और 'मयि' शब्द के द्वारा 'परमात्मा' को ही समझना होगा। सम्भवतः वेदवाणी में भी पढ़ा होगा 'प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा विज्ञेय या जानने योग्य है। जिस समय आत्मा और परमात्मा का अलग-अलग दर्शन करके समझोगे कि दोनों एक ही हैं, इनमें कुछ भी भेद नहीं है, तभी अभेद-ज्ञान या अद्वैत ज्ञान दृढ़ होगा। जैसा देही को देखते हो वैसा ही जब ब्रह्म को भी देखोगे। (साक्षात् अपरोक्षरूप से अनुभव करोगे) तभी ठीक-ठीक समझोगे कि एक ही है, दो नहीं है, दो नहीं रह सकते। वह एक 'मैं' ही हूं, ब्रह्माऽहमस्मि'।

एक बात कहता हूँ। इस श्लोक में जैसे आत्मा का अर्थ प्रत्यागात्मा है, वैसा सर्वत्र ही नहीं है। गीता और उपनिषद् के किसी-किसी मन्त्र में 'परमात्मा' अर्थ में भी 'आत्मा' शब्द का व्यवहार हुआ। कहीं-कहीं 'आत्मा' शब्द का शरीर या मन के वाचकरूपसे भी प्रयोग किया गया है। सर्वत्र ही प्रसंग को देखकर अर्थ का निर्णय करना होगा। ब्रह्म प्रभृति शब्द भी बहुत समय तीन प्रकार के विभिन्न भावों के वाचक हैं— (१) निर्गुण (२) निर्गुण-सगुण (३) सगुण।

एक सत्य ही—एक तत्व ही भिन्न-भिन्न प्रसंग पर विभिन्न भाषाओं में वर्णित हुआ है, मानो वह एक-एक पक्ष का, एक-एक अवस्था का, एक-एक भाव का अलग-अलग वर्णन है। श्रोता की आवश्यकतानुसार एवं वर्णनीय प्रसंग की सुबोधता के लिये इस प्रकार का वर्णन बहुत समय आवश्यक होता है अथवा जिस समय जिन्होंने जैसा अनुभव किया, उस समय उन्होंने उतना ही कहा है। परन्तु किसी भी वर्णन में पूर्णत्व का पूर्ण परिचय नहीं है, इस बात को याद रखना होगा। कहीं माया सम्पर्क हीन शुद्धत्ताद्वैत, कहीं मायाधीश, कहीं द्वैताद्वैत, कहीं द्वैत, और कहीं कुछ ओर ही .... इत्यादि।

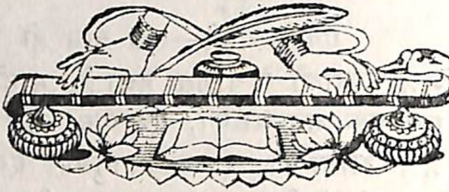
यदि कभी तपस्या न कर सको तो शास्त्र-चर्चा कर सकते हो। शास्त्रों में से जो ग्रन्थ या जो भाव तुम्हें पसन्द है उसीकी विवेचना करना। समस्त पुस्तकों को पढ़ना व्यर्थ है।

प्रति दिन थोड़े समय के लिये (दस-मिनट से अधिक न हो) Vacancy Practice या मन को

वृत्तिहीन करने का अभ्यास करके देख सकते हो। इससे शरीर में दुर्बलता मालूम हो तो छोड़ देना। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

ऋषिकेश



३६

ॐ

नारायणेषु !

आज अधिक लिखने का समय नहीं है। तुच्छ विषय पर मन क्यों अधिक आन्दोलित होता है ? किसने क्या सोचा या नहीं सोचा, किसने क्या कहा या नहीं कहा, किसने क्या किया या नहीं किया इस ओर तुम्हारा मन क्यों जाय ? तुम समयानुसार और आवश्यकतानुसार आहारादि समाप्त करके शेष सम्पूर्ण समय को भगवच्चिन्तन में व्यतीत करने की चेष्टा करो। अन्य सारी चिन्ताओं को छोड़ दो। मननशील होने से ही मुनि होता है। अन्यथा केवल काष्ठ मौन व्रत से क्या लाभ ?

यथा सम्भव दृश्य वर्जन तो करना ही होगा, तो भी जो दृश्य दिखायी दे उसकी भी उपेक्षा करनी चाहिये। उसे भूलने की चेष्टा करनी चाहिये। स्मृति ही शैतान

का द्वारपाल है। पुरानी स्मृति कितने समय मोहनीवेश में मुग्ध करती है। फिर भविष्य की कल्पना भी मन को तरंगायित (चञ्चल) कर देती है 'संकल्प प्रभवान् कामान' संकल्प से कामना जागृत होती है, अतः जिन सांसारिक कर्मों को किये बिना नहीं रह सकते, उनके लिये वसिष्ठदेव का उपदेश है— 'केवल वर्तमान को ही आश्रय करके रहो।'

एक कहानी है—परम मंगलमय शिव ने राक्षसों को ध्वंस करने के लिये मातृकाओं की सृष्टि की। वे राक्षसों का विनाश करके जब विश्व को ग्रास करनेके लिये उद्यत हुईं, तब परम शिव की इच्छा से उनकी वैष्णवी शक्ति से दैवी मातृकाऐं उत्पन्न होकर पूर्वोत्पन्न मातृकाओं का विनाश करके अपनी कारणभूता वैष्णवी शक्ति में लीन हो गईं।

'हमने हरिकथा के अतिरिक्त अन्य बातों का परित्याग किया।' "अन्या वाचो विमुच्यथ" व्यर्थ बातों का परित्याग करना होगा। यह जैसे बाहर वैसे भीतर भी। इस प्रकार क्रमशः दूसरी बातों की चर्चा कम हो जायेगी और मन शान्त हाता रहेगा। अन्त में जब सब स्पन्दन प्रायः बन्द हो जायेंगे एवं वह स्थिति सहज हो जायेगी तभी ठीक-ठीक मुनि होंगे। आज इतना ही।

शिवमस्तु। इति।

ऋषिकेश
२६-६-२५.

३७

ॐ

नारायणेषु ।

अभी से चेला चेली बनाना आरम्भ कर दिया ? पाचनयन्त्र बहुत शक्तिशाली न हो तो इन सबका पाचन नहीं हो सकता। अन्त में संम्भवतः चिरकाल तक अजीर्ण की बीमारी भोगनी पड़ती है। इसलिये इस प्रकार की दया माया को छोड़ दो। हरिण के बच्चे को जंगल में छोड़ दो। तुम्हारी सहायता तथा तुम्हारी सहानुभूति बिना ही वह जीवित रह जायेगा। उसकी माँ या मौसी बनकर 'राक्षसी माया' दिखला कर तुम उपकार करने का कितना दम्भ करोगे ? अपने चरखे में तेल लगाओ। अपने कार्य में व्यस्त रहो। निरन्तर तपस्या करो। दूसरे साधारण व्यक्ति के लिये दो चार लक्ष वर्ष का जो मूल्य है, तुम्हारे लिये एक सैकेण्ड की भी उससे बहुत अधिक कीमत होनी चाहिये। "तीव्र संवेगिनामासन्नः" तीव्र संवेग वाले साधकों के लिये समाधि लाभ जल्दी होता है।

तीन महीने या छः महीने के अन्दर ज्ञान प्राप्त हो सकता है—इस बात का उल्लेख कितनी ही पुस्तकों में है। ये सब कवि-कल्पना, मन को भुलाने की झूठी बातें नहीं हैं। जो श्रद्धाहीन है उसके लिये ही ये बातें झूठी हो सकती हैं। श्रद्धावान् के तथा कर्मी के लिये ये सजीव सत्य है।

मन जितने अधिक ऊर्ध्वचक्र में या स्थिति में जाता है, उतना ही शुभ है, और जितने अधिक समय तक ऊर्ध्व स्थिति में रहे उतना ही लाभ हैं। जब मन उर्ध्व स्थिति में रहता हैं, तब बातचीत और चिन्तन भावना करनी बहुत समय संभव नहीं होती। जितने निश्चल और स्थिर तथा शान्त रह सकोगे, उतना ही उपकार होगा। यदि सुविधा मालूम हो तो मन को वृत्ति शून्य करने की चेष्टा कर सकते हो।

शिवमस्तु। इति।

ऋषिकेश
३-१२-२४

३८

ॐ

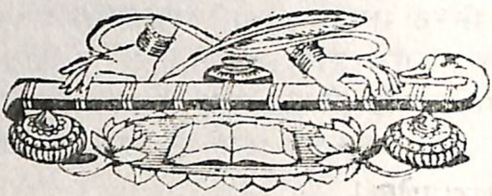
नारायणेषु !

केवल एक विषय पर लक्ष्य रखना जिससे किसी के साथ बाध्यबाधकतान पैदा हो, और किसी नये बन्धन की सृष्टि न हो। बहुत समय स्नेह सम्बन्ध इतना धीरे-धीरे पैदा होता है और इतने आराम या सुखानुभूति के साथ बढ़ता है कि उसमें दोष दिखाई ही नहीं देता।

एक ही स्थान पर दीर्घकाल तक रहने से यदि खूब सावधान न रहा जाय, तो नाना प्रकार की आत्मीयता और भोगसुख के उपकरणों के बढ़ने की संभावना हो जाती है। इसलिये साधु को सर्वदा सावधान रहना चाहिये। सांसारिक वस्तुओं की इच्छा जितनी रखोगे, उतने ही नीचे उतर आओगे। संसार के साथ जितना प्रेम रखोगे उतनी हानि होने की संभावना रहेगी। इस बात को स्मरण रखने की चेष्टा

रखना ; यदि भाव और विचार पसन्द न हों तो, तो उससे क्या हानि है ? मौन (चुप) रहने की चेष्टा क्यों नहीं करते ? जितने भाव और विचार हैं सभी तो मौन के ऊपर नृत्य करते हैं।

शिवमस्तु । इति !



३९

ॐ

नारायणेषु !

तुम क्यों इतने चञ्चल हो रहे हो ? किसने तुमसे अपना ज्योति-दर्शन-अभ्यास बन्द करने को कहा था ?

× × ×

सभी व्यक्तियों का अन्तिम ध्येय एक ही होना चाहिये; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी अपने ध्यान में एक ही आदर्श को रखते हैं। मनुष्यों की बुद्धि और प्रकृति में भेद होता है और उन्हीं के अनुसार उनके अन्तिम आदर्श विषयक ज्ञान में भी पार्थक्य होता है। यद्यपि वास्तव में चरम आदर्श भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते, जैसे कि दो सत्य नहीं हो सकते।

जैसा कि हम देखते हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अनुभव भी भिन्न-भिन्न होते हैं, यद्यपि अन्त में

सभी व्यक्ति अवश्य ही एक ही चरमादर्श में पहुँच जाते हैं। उनके चरमादर्श एवं अनुभव हमें भिन्न प्रतीत होने पर भी अन्त में वे एक ही सत्य पर पहुँच जायँगे।

जैसे कि भिन्न-भिन्न शारीरिक प्रकृतियों के लिये भिन्न-भिन्न खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न मानसिक प्रकृतियों के लिये भिन्न-भिन्न बौद्धिक तथा आध्यात्मिक खुराकों की भी आवश्यकता होती है। जैसे कि भिन्न-भिन्न औषधियों की सहायता से भिन्न-भिन्न रोगी अच्छे हो जाते हैं और जल्दी या देर में एक ही प्रकार के सुन्दर स्वास्थ्य को प्राप्त करते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न दार्शनिक तत्वों का अनुसरण करके एवं भिन्न-भिन्न योग विद्याओं के द्वारा भिन्न-भिन्न साधक शीघ्र या विलम्ब में एक ही मोक्षावस्था या पूर्णत्व को प्राप्त कर लेंगे। इस विचित्र संसार में सभी भिन्नताओं का उपयोग है। अनन्त प्रकार की भिन्न-भिन्न सृष्टि के लिये तुम उस स्रष्टा की सृष्टि पर दोषारोपण करने की चेष्टा मत करो। ज्ञानी बनने की चेष्टा करो। उनके (परमेश्वर के) विधान के विषय में शिक्षा प्राप्त करो। उन्हें और उनके कर्म के विषय में जानने के लिये यत्न करो। सभी संशय मिट जायँगे और तुम्हें पूर्ण शान्ति मिलेगी। जब तक ऐसा न हो अपने निहित-कर्त्तव्यों में लगे रहो।

शिवमस्तु।

ऋषिकेश

४०

ॐ

नारायणेषु !

अब तुम्हारे अन्यत्र जाने के विषय में लिखता हूं ! प्रत्येक संसारी का अपना एक गृह, विश्राम एवं आश्रय स्थान या एक निश्चित स्थान होता है, जहाँ वह खाता-पीता और सोता है। जहाँ वह अपनी वस्तुओं को रखता हैं और अपने मित्रों से मिलता है। यह कहा जाता हैं कि वह अपने अधिकार में है; परन्तु वास्तव में तो कहा जा सकता है कि वही अल्पाधिक रूप में उसके मन पर अधिकार कर लेता है ! वह उसे छोड़ना नहीं चाहता और न वह अन्यत्र आराम से रह सकता है। जब भी उसे छोड़कर जाना पड़ता है, वह उसके रक्षणावेक्षण और यात्रा के लिये व्यवस्था करता है, और जितना जल्दी संभव हो लौटकर आने की चेष्टा करता है। संक्षेप में वह उस स्थान में बँध जाता है। जब परिस्थिति उसे

उसका सम्बन्ध छोड़ने के लिये बाध्य करती है, तब वह एक नया घर बनाता है और नवीन गृह या परिवर्तित पक्के निवास स्थान के साथ उसका सम्बन्ध पहले की तरह उसी प्रकार का हो जाता है। यही नहीं, किसी के लिये तो वह दूसरा गृह उससे भी अधिक प्रिय होता है, क्योंकि इसे उसने स्वयं बनवाया है। पहला तो उसके पूर्वजों ने बनवाया था, और वह सर्वथा उसके मन के अनुकूल भी नहीं था। जब मैंने तुम्हें स्वर्गाश्रम छोड़ने को कहा था, तब सोचा था, कि वह तुम्हारे लिये दूसरा गृह या निवास स्थान न बन जाय। परन्तु मैं भूल भी कर सकता हूं, क्योंकि साधारणतया एक व्यक्ति के लिये दूसरे के मन को जानना सम्भव नहीं होता। यदि तुम समझो कि यहाँ पर रहने से तुम्हारे साधु जीवन में कुछ भी हानि नहीं होगी, तो तुम स्थान-परिवर्तन का ख्याल छोड़ सकते हो। यह केवल मानसिक स्थिति का प्रश्न हैं और तुम अपने मन के विषय में उत्तम विचारक हो। मुझे केवल यही चिन्ता है कि जब हम साधु हो गये, तब हमें कोई भी वस्तु उसके त्याग मार्ग से च्युत न कर सके। जैसा कि अहिरावण भिन्न-भिन्न रूप में राम के सम्मुख आ जाता था, उसी प्रकार आराम का ज्ञान जो कि हम में बद्धमूल है, कभी निर्दोष और मधुर रूप में आकर हमें पथभ्रष्ट कर सकता है, जब कि हमें अपनी अवनति के विषय में मालूम न हो। इसलिये हमें सर्वदा सावधान रहना चाहिये। जितना हम सांसारिक वस्तुओं पर निर्भर करेंगे, उतना ही हम ईश्वर कृपा जो कि हमारी आश्रय और निवास-स्थान है प्राप्त करने के अनाधिकारी होंगे।

वृन्दावन
३०-३-२०

४१

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा विचार मुझे अधूरा मालूम पड़ता है। मैं समझता हूं कि—'भगवान ही सर्व कर्म के कर्त्ता हैं।' यह विश्वास तुममें सुप्रतिष्ठित है। और प्रेममय तथा मंगलमय हैं। इस बात में भी संभवतः तुम्हारा अविश्वास नहीं है। फिर सारी स्थितियों में उनकी ओर दृष्टि रखकर प्रशान्त मन से दिन को क्यों व्यतीत नहीं कर सकते हो ? जिस भाव और अवस्था को तुम अशुभ तथा अप्रीतिकर समझ रहे हो, अन्त में उससे ही तुम्हारा कल्याण नहीं होगा, क्या इसे दावे के साथ कह सकते हो ? तो भी यदि किसी अवस्था को अशुभकारी ही समझते हो, भगवान् के मंगलमयत्व में विश्वास ही कहाँ रहा ? और यदि विश्वकर्त्ता मंगलमय न हों तो हमारे साथ शत्रु की नाईं व्यवहार करने में उनका अवश्य ही कुछ प्रयोजन

रहना चाहिये। यदि उन्हें मंगलमय रूप से ही स्वीकार किया जाय तो सन्तोष तुम्हें क्यों परित्याग करेगा ? प्रीति और संतोष, प्रफुल्लता और उत्साह एवं धैर्य और साहस—ये सब निर्भरता के अवश्यम्भावी दान हैं। निर्भरता जितनी दृढ़ होगी, भगवान में जितना आत्म-समर्पण पूर्ण होगा, उतने ही ये सब सद्गुण अधिक से अधिक तुम्हारे अधिकार में आयेंगे। यदि ये न आवें, तो समझना चाहिये कि निर्भरता में कुछ न्यूनता है। विचार तथा आत्म-निरीक्षण के द्वारा रोग को बाहर निकालना होगा और प्रतिज्ञा, वैराग्य तथा तितिक्षारूप औषधि से उसको शान्त करने की चेष्टा करनी पड़ेगी। 'हा ! हतोस्मि' करने पर कार्य सिद्ध नहीं होता। जितनी व्यस्तता, जितनी अधीरता होगी, उतना ही विघ्न, उतनी ही अशान्ति और उतना ही विलम्ब होगा। मन जितना शान्त रहेगा, धैर्य और विचार का जितना अधिक आश्रय लोगे एवं अध्यवसाय के साथ कार्य में जितने अधिक लगे रहोगे, उतनी हो जल्दी लक्ष्य स्थान पर पहुँचने की संभावना तथा उतनी ही शान्ति लाभ करने की आशा रहेगी और उतने ही विघ्न एवं असुविधायें कम होंगी।

भगवान् को तुम चाहे कैसे ही मानों, वे कभी भी तुम्हें छोड़ नहीं सकते और तुम्हारे ऊपर असन्तुष्ट भी नहीं होंगे। वे तुम्हें नहीं छोड़ेंगे—तुम भी उन्हें कभी मत छोड़ना।

शिवमस्तु ! इति।

स्वर्गाश्रम

१५-६'-२०

★

४२

ॐ

नारायणेषु !

अध्यात्म-मार्ग को पार करना अत्यन्त कठिन है; वह छुरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण है। यदि किसी प्रकार की कठिनाई के बिना ही तुम अन्तिम ध्येय पर पहुँचना चाहते हो, और यदि तुम अल्प समय में ही अपनी मानसिक चञ्चलता से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करना चाहते हो, तो मुझे मालूम होता है कि तुम्हें निराश ही होना पड़ेगा। तुम्हारी प्रकृति के अन्दर कितनी मलिनतायें भरी पड़ी हैं, जिन्हें शुद्ध करने के लिये दीर्घकाल तक कठिन अभ्यास की आवश्यकता है। उच्छृङ्खल मन को संयत करना कोई हँसी-खेल नहीं है। जब तुम्हें अपनी दृढ़मूल दुर्बलताओं के साथ सम्बन्ध विच्छेद करना होगा, तब उन पुराने मित्रों के लिये एक मधुर आकर्षण तुम्हें महान् कष्ट देगा। जब तुम उनमें से किसी

को भी ध्वंस करने के लिये चेष्टा करोगे, तब वह तुम्हारे ऊपर भीषण आक्रमण करेगा; और ऐसी आपत्ति के समय एवं अध्यात्ममार्ग की सम्पूर्ण यात्रा में ही तुम्हें विवेक का आश्रय लेना होगा, जिससे तुम किसी प्रकार से भी विचलित न हो, वैराग्य का आश्रय लेना होगा, जिससे भयभीत न हो, एवं धैर्य का आश्रय लेना पड़ेगा जिससे तुम उद्भ्रान्त न बनो। मार्ग में लगे रहने के लिये तुम्हें विश्वास और प्रेम को बढ़ाना होगा। इसके अतिरिक्त अटूट अभ्यास एवं उद्देश्य के प्रति सरल भावना की आवश्यकता है। इन सब शस्त्रों से, जिससे कि दूसरे आवश्यक गुणों की भी वृद्धि होगी, सज्जित होकर तुम जितनी अच्छी तरह हो सके अपनी तपस्या में आगे बढ़ो। सर्वदा अधिक पवित्र अच्छे एवं महान् होने की चेष्टा करो। आराम, सिद्धि या दूसरी रिश्वत के लिये कभी हाथ मत फैलाओ। तपस्या को श्रेष्ठतम कर्त्तव्य समझ कर करते जाओ। फल की आशा न रखो। यदि तुम इस प्रकार से न चल सको एवं प्रत्येक स्थिति में शिकायत ही करते रहो तो सामान्य आपत्तियों में ही तुम अपने ध्येय से च्युत हो जाओगे और अधिक फल प्राप्त नहीं कर सकोगे। इस बात को याद रखना और अपने कर्त्तव्य के विषय में सोचना।

आज इतना ही। ॐ

'श्रीनगर, काश्मीर'

११-८'-२४

४३

ॐ

नारायणेषु ।

तुम्हारा पत्र मिला। अपने कर्त्तव्य के विषय में ···· ···· से जो उपदेश प्राप्त कर सको, उसके अनुसार ही चलने की चेष्टा करो। वे ही तुम्हारे मार्गदर्शक और चालक हैं, वे ही तुम्हारे रक्षक एवं शान्ति विधायक हैं। मन वचन और शरीर के द्वारा उनका आदेश पालन करने का यत्न करो। यदि उनके वाक्यों के साथ मेरे वाक्यों का मेल न हो, तो मेरी बात को मत मानना। उनके वाक्यों के साथ मेरे जिन-जिन वाक्यों की एकता हो, उनका ही अनुसरण करना।

मेरे विचार से दो महीने और भी घर में ही रहना चाहिये। घर में रहना दुःखप्रद और अशान्ति-जनक है—यह मैं समझता हूँ; परन्तु साधन की सहायता से जो वीर साधक मृत्यु की भी उपेक्षा करने में दृढ़ प्रतिज्ञ है, उसके लिये सामान्य सांसारिक छेड़-छाड़, सामान्य उत्पीड़न और किञ्चित् अशान्ति असहनीय होंगी ? यदि शान्त मन से इतना भी सहन

न कर सको, तो भविष्य में इससे भी कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकोगे, इसकी भी क्या आशा और सम्भावना है ? यह भी तुम्हारे लिये एक परीक्षारूप है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकने से ऊँची श्रेणी पर उन्नति होने का अधिकार प्राप्त कर सकोगे। प्रत्येक दो श्रेणियों के बीच में परीक्षा की एक सीमा है, उसे बल पूर्वक और यत्न के साथ पार करना होगा। अधीर होने से काम नहीं चलेगा, और न भाग जाने से ही काम बनेगा। संग्राम में शत्रु के सम्मुख रहकर ही विजय प्राप्त करना होगा। यह न कर सको तो मनुष्यत्व ही क्या है ? इस प्रकार न कर सको तो 'ठाकुर' के ऊपर क्या निर्भरता है ? इसलिये फिर कहता हूँ अविकृत चित्त से सारी विपत्तियों को सहन करने की चेष्टा करो। फिर दो महीने पीछे दूसरे स्थान पर चले जाना, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।

यदि भगवान में निष्ठा हो, यदि उनके मंगलविधान में विश्वास हो, तो इस विपत्ति में भी मन स्थिर रहेगा। निष्ठा का क्या अर्थ है ? 'नि' पूर्वक 'स्था' धातु से 'निष्ठा' शब्द बनता है। अतः विशेषरूप से 'स्थिति' ही निष्ठा है। यदि किसी को आश्रय करके रह सको, यदि कभी उसका परित्याग न करो, तभी उसमें निष्ठा समझी जायेगी। इस प्रकार धर्मनिष्ठा, समयनिष्ठा, नियमनिष्ठा, प्रभृति निष्ठाओं की सहायता से भगवन्निष्ठा उत्पन्न करनी चाहिये। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

श्री काशीधाम
१९-१०-'१८

चतुर्थ भाग



४४

ॐ

नारायणेषु !

क्या तुम 'शुभ गुण वाले' होना चाहते हो ? क्या तुम्हें शान्ति-सुख प्राप्त करने की इच्छा है ? क्या तुम जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने की इच्छा रखते हो ? क्या तुम संसार समुद्र के पार जाने की अभिलाषा रखते हो ? श्रेष्ठतम वस्तु की प्राप्ति के लिये क्या तुम्हारी आकांक्षा उत्पन्न हुई है, तो अभी जीवन के प्रफुल्ल उषाकाल में ही लक्ष्य सिद्धि के लिये चेष्टा करना आरम्भ करो। जो स्वर्ण सुयोग इस समय तुम्हारे लिये उपस्थित हुआ हैं, उसका सदुपयोग न करने पर भविष्य में तुम्हें बहुत क्लेश भोगने पड़ेंगे। इसलिये कहता हूं, इस समय से ही कार्य में तत्पर हो जाओ। सिद्धि प्राप्त होने तक कार्य में लगे रहो और उत्साह तथा धैर्य के साथ अग्रसर हो जाओ।

आजकल तुम्हें जिस प्रकार चलना चाहिये, उसके विषय में संक्षेप में नीचे लिखता हूं। इन कर्तव्यों को भली भाँति सम्पन्न करके और भी अधिक श्रेष्ठतर कर्तव्यों के भार को स्वीकार करना होगा।

स्वास्थ्य रक्षा के लिये सर्वदा ध्यान रखना। अधिक भोजन या अनुचित भोजन का परित्याग करना। जो वस्तु खाने से बीमारी पैदा हो सकती है, यथा सम्भव उसको त्यागना। प्रतिदिन ठीक समय पर निद्रा लेना और ठीक समय पर शय्या त्याग करना। निर्दिष्ट समय पर भ्रमण करना। शय्या, पहिनने के वस्त्र आदि और अपने निवास स्थान को स्वच्छ रखना। शरीर को भी साफ रखने का यत्न करना, परन्तु विलासिता का पूर्णतया त्याग करना। पूजनीय व्यक्ति, बन्धु, पड़ौसी, दास-दासी सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना। किसी की भी मर्यादा को नष्ट न करना। कभी भी शिष्टाचार का परित्याग न करना और न दूसरे की निन्दा ही करना।

सत्य बोलना। किसी की भी हानि की चेष्टा न करना। सर्वदा मन को पवित्र रखना। पवित्र चिन्तन के द्वारा अपवित्र चिन्तन को निकाल देना। अनुचित कर्म कभी न करना।

नियम बना कर उसके अनुसार प्रतिदिन के कर्त्तव्य कर्मों को भली भाँति सम्पन्न करने का यत्न करना। जिस कर्म के लिये जो समय निर्धारित हो, उसे उसी समय करना। यदि नियम पर चलने में असुविधा मालूम हो तो बीच-बीच में उसका परिवर्तन भी कर सकते हो। परन्तु इस प्रकार

का परिवर्तन जितना कम हो उतना ही अच्छा है। जब तक जो नियम निर्धारित रहें, तब तक उनके अनुसार चलने की चेष्टा करना। नियम-निष्ठा तथा समय-निष्ठा के बिना संसार में कार्य सफलता प्राप्त करना संभव नहीं होता।

आलस्य सबसे अधिक हानि करता है। आलस्य के कारण शरीर नष्ट हो जाता है, मन दुर्बल हो जाता है और दूसरी भी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। ध्यान रखना कि किसी भी प्रकार आलस्य अधिकार न जमाने पावे। सर्वदा ही किसी न किसी सत्कार्य में लगे रहना।

विद्याभ्यास तुम्हारे लिये सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य हैं। नियमानुसार प्रतिदिन के पाठ का अभ्यास करना। आज का पाठ कलके लिये रख देना ठीक नहीं है। पुस्तकों को जितनी अधिक बार और जितनी अच्छी तरह से सम्भव हो, पढ़ना। मूर्खता को छिपाना अच्छा नहीं है। जो बात न जानते हो, जिसे न समझते हो, वह बात योग्य व्यक्ति से जान और समझ लेना।

संस्कृत, बंगभाषा, और अंग्रेजी भाषा की कुछ अच्छी-अच्छी कविताओं को कण्ठ कर लेना। जिन पुस्तकों को पढ़ने से भक्ति बढ़ती है और मन उन्नत होता है, अवसर मिलने पर इस प्रकार की दो-एक पुस्तकों को पढ़ना। रामायण, महाभारत, कालीकुण्डोलिना प्रभृति पुस्तकों को पढ़ना।

जब सम्भव हो भगवान् का नाम उच्चारण करना। ऊँचे स्वर से या मन ही मन—जैसा अच्छा लगे वैसा ही जप करना। चलते हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए, सोते हुए सर्वदा ही जप करने का यत्न करना। जप करने

के लिये कोई समय कुसमय नहीं है, शुचि-अशुचि का विचार भी नहीं है। परन्तु ध्यान रखना कि जप के कारण विद्याभ्यास या दूसरे कर्त्तव्यकर्मों में बाधा न हो। जब भी समय मिले तभी जप करना।

अपने रहने के कमरे में भगवान् का एक चित्र रखना। बीच-बीच में उसकी ओर देखते रहना। जो अंग देखने में अधिक प्रिय लगे, उसे अधिक समय तक देखते रहना। बीच-बीच में सम्पूर्ण मूर्ति को ही देखना। किसी-किसी समय चित्र की ओर दृष्टि न डालकर, मूर्ति का चिन्तन करने की चेष्टा करना। उसमें असमर्थ रहो तो फिर चित्र को देख लेना।

मन ही मन पुष्पादि से भगवान् की पूजा करना। प्रार्थना करना और उन्हें नमस्कार करना। निद्रा आने से पूर्व उस मूर्ति का चिन्तन करते रहना। आहार की वस्तुएँ भगवान को निवेदन करके उनका प्रसाद मान कर खाना। सब जीवों को सन्तान मानकर उनसे प्रेम करना सीखना। सर्वदा प्रफुल्लित रहना।

सावधान रहना जिससे एक कर्त्तव्य के कारण किसी दूसरे कर्त्तव्य के सम्पादन में विघ्न न हो। जब भी कोई विघ्न उपस्थित हो, सरल हृदय से वराभयदायिनी विश्वजननी से प्रार्थना करना। वे कृपा करने में कृपणता नहीं करेंगी।

शिवमस्तु। इति।

४५

ॐ

निशापत्सु !

दीर्घकाल के अभ्यास से बहुत समय तक सोते रहने का बुरा अभ्यास दृढ़ हो गया है। अतः इसे ठीक करने में कुछ समय लगेगा। अधिक भोजन, अनुचित भोजन, थकावट और अपाचन प्रभृति के कारण भी निद्रा बढ़ती है। ध्यान रखना कि ये कारण बनने न पावें।

एक व्यायाम कर सकते हो। प्रतिदिन एक एक बार करना। सीधे खड़े हो जाना। फिर ध्यान करते समय जैसे ध्येय मूर्ति के चरणों से आरम्भ करके क्रमशः मस्तक तक चिन्तन करते हैं, वैसे ही तुम अपने पैरों से आरम्भ करके क्रमशः ऊपर की मांसपेशी आदि पर मनको एकाग्र करते-करते दृढ़ता के साथ चिन्तन करना कि मानों वे नियम पूर्वक मस्तक की ओर चढ़ रही हैं। इस अभ्यास को पाँच या छः मिनट से

अधिक मत करना। मालूम नहीं पत्र पढ़कर इसको कर सकोगे या नहीं। छाती पर थोड़ा खिंचाव पड़ सकता है। यदि यह कर सको तो सम्भव है निद्रा कुछ कम हो जाय। प्रतिदिन एक घंटे तक खूब वेग से भ्रमण करने की चेष्टा करना।

यदि एक Alarming (घण्टी बजाने वाली) घड़ी रख सको तो सम्भवतः निद्रा को संयत करना सुगम हो जाय। अन्यथा प्रतिदिन सोते समय तीन-चार बार दृढ़ प्रतिज्ञा करो कि अमुक समयपर अवश्य ही जग जाऊँगा। कुछ दिन तक इस प्रकार करते-करते निद्रा नियमित हो सकती है।

अभ्यास तथा प्रयत्न के द्वारा निद्रा का वेग बहुत अंश में कम किया जा सकता है। किन्तु अचानक निद्रा को रोकने की चेष्टा मत करना।

जिसके हृदय में वैराग्य रूपी अग्नि प्रज्वलित हुई है, जो श्रीभगवान के विरह से व्याकुल है, निद्रा उसके निकट कभी नहीं आ सकती। जो भगवान के ध्यान में मग्न है, उसकी निद्रा अवश्य ही अल्प हो जाती है। सत्वगुण की वृद्धि के द्वारा जिसने रजोगुण-तमोगुण को बहुत कम कर दिया है, उसे अधिक निद्रा होने का क्लेश नहीं भोगना पड़ता।

विश्वास और निर्भरता रहने पर थोड़े समय में ही सारे दोष मिट जाते हैं।

शिवमस्तु ! इति।

लक्ष्मण झूला

१५-६'- २०

४६

ॐ

नारायणेषु !

धर्म जीवन आरम्भ करने के लिये भी मिथ्या की सहायता लेना असंगत है। एक ही मिथ्या वाक्य के कारण युधिष्ठिर के रथ का पहिया चिरकाल तक पृथ्वी से लगने लगा था। जब तुम्हारा मन और भी अधिक निर्मल होगा, तब समझोगे कि एक मिथ्या भाषण और एक साधारण अन्याय में कितनी वेदना तथा कितनी दुःख देने वाली शक्ति है। अतः प्राणपण से यत्न करना कि सदा सत्य तथा न्याय के मार्ग पर चल सको। सत्य तथा न्याय के लिये जिस त्याग को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है, उसके लिये सर्वदा तैयार रहना। उस प्रकार के त्याग को स्वीकारकरने पर ही मनुष्यत्व का विकास होता है। उससे ही जय तथा शान्ति मिलती है एवं उसमें ही जीवन की सफलता है। ॐ

श्रीकाशीधाम

७-१२'-१८

४७

ॐ

नारायणेषु !

जब तक हृदय में सरलता रहेगी, मन वचन में मेल रहेगा एवं संकुचित भावना और कुटिलता उत्पन्न नहीं होगी तब तक उन्नति की आशा असम्भव नहीं है। किन्तु जब कुछ छिपाने की भावना प्रबल होगी, भय और संशय बढ़ेंगे, प्रमाद से कर्म करने की प्रवृत्ति जागृती होगी, भाग-भाग कर भ्रमण करने की इच्छा होगी एवं कुयुक्तियों, कपट के द्वारा मन की कुभावनाओं को ढाँपने की चेष्टा करोगे, तब समझ लेना कि तीव्र वेग से नरक समुद्र में गिर रहे हो। जब तक उन्नति की आशा रहती है, लक्ष्य स्थिर रहता है, विचार बुद्धि दृढ़ रहती है, और सत्य में निष्ठा रहती है, तब तक कुछ मात्रा में संयम अवश्य रहेगा।

कुप्रवृत्तियाँ बहुतों के मन में ही जागृत होती हैं। जो मनुष्यत्व हीन हैं, संसार में विष्ठा के कीड़े की तरह

हैं, पशुधर्मी (पशु तुल्य आचरण करने वाले) हैं, और उन्नति की आशा से रहित हैं; वे मोहान्ध व्यक्ति ही प्रवृत्ति के द्वारा परिचालित होकर अध:पतन के मार्ग पर तीव्र गति से अग्रसर होते हैं। परन्तु जो शान्तिकामी हैं, दु:ख निवृत्ति ही जिनका लक्ष्य है, पवित्रता ही जिनका आदर्श है, भगवान् ही जिनका लक्ष्य है, तथा शौर्य और वीरता जिनके बन्धु हैं, वे महामना व्यक्ति भगवान का नाम उच्चारण करते हुए प्रवृत्ति को पैर से कुचलने का यत्न करते हैं। वे एक बार परास्त होने से ही नहीं भाग उठते। एक बार, दो बार, तीन बार,—जितने बार भी आवश्यक हो, वे अध्यवसायपूर्वक प्रवृति के साथ संग्राम जारी रखते हैं। पराजित होना दोषयुक्त नहीं हैं, भागना ही दोषयुक्त है पुन:-पुन: परास्त होकर भी यदि तुम अन्त में जय लाभ कर सको, तो उसके पश्चात् सदा के लिये ही तुम जयी होकर रह सकोगे। फिर परास्त होने का दु:ख नहीं रहेगा। परन्तु यदि एक बार पराजित होकर ही भाग जाओगे तो चिर-काल के लिये ही तुम परास्त हो जाओगे।

"मुझसे कुछ भी नहीं होगा"—इस प्रकार जो बोलता है, वह न तो चेष्टा करता है, और न सफल काम ही होता है। परन्तु जो सोचता हैं और मन-प्राण में विश्वास रखता है कि मैं अवश्य ही कर सकूंगा; जब दूसरे कर सकते हैं तब मेरे लिये भी यह कार्य कैसे असम्भव हो सकता है; तथा जो प्रतिज्ञा करता है कि जब तक सफलकाम न बनूंगा तब तक चेष्टा करता ही रहूंगा, वह चेष्टा करेगा ही; और चेष्टा के फलस्वरूप भगवत्कृपा का अधिकारी होकर सिद्धि लाभ करके भी कृतार्थ हो जायेगा। चेष्टा करना क्या बहुत कठिन कार्य है ? 'मैं ताश नहीं खेलूंगा—इस प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये क्या

मनुष्य के लिये अप्राप्य शक्ति की आवश्यकता होती है। 'कुसंग से सम्पर्क नहीं रक्खूंगा'—इस प्रतिज्ञा की रक्षा करना क्या दृढ़ संकल्प वाले युवक के लिये असम्भव है? पहले कष्ट होगा, परन्तु शुभेच्छा और संयम कष्ट को बहुत अंश में कम कर देंगे एवं धैर्य तथा साधननिष्ठा किसी समय पर निश्चय ही उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देंगी। आज इतना ही। ॐ

४८

ॐ

नारायणेषु !

घर में जाकर कभी कुसंग में मत बैठना, और नाटक आदि में भी सहयोग मत देना। ध्यान रखना कि चरित्र की विशुद्धता और पवित्रता को कभी क्षति न पहुँचे। सम्भव हो तो यथा साध्य ग्रामवासियों का उपकार करना।

बालक जैसे माता से प्यार का दावा करता है, उसी तरह जो भगवान से करुणा का दावा कर सकता है, भगवान उस पर अवश्य दया करते हैं। उन्नति तुम्हारे लिये ही है, एवं तुम भी भगवान के लिये हो।

जिसे सत्य तथा कर्त्तव्य रूप समझो, उसे प्राणपण से पकड़ने की चेष्टा करना। सुकरात ने प्रसन्नवदन से विष पीकर देह त्याग कर दिया। तो भी जिसे सत्यरूप समझा उसका परित्याग नहीं किया। काजी के भीषण अत्याचार से

भी हरिदास ने भगवन्नाम को नहीं छोड़ा। जटिला कुटिला की भर्त्सना के भय से श्रीराधा भयभीत नहीं हुई।

हिरण्यकशिपु के अत्याचारों से प्रह्लाद विचलित नहीं हुए। विवेक के संरक्षण के लिये राममोहनराय ने घर से निकाले जाने की भी परवाह नहीं की। जो धर्म के लिये, सत्य के लिये, तथा कर्त्तव्य के लिये इस प्रकार अचल अटल भाव से खड़े रहने की चेष्टा करते हैं (या अपने आदर्श पर स्थिर रहने की चेष्टा करते हैं) भगवान् उनकी सहायता करते हैं।

प्रत्येक महीने में उससे पहिले महीने की अपेक्षा अपने को कुछ अधिक उन्नत अनुभव करते हो या नहीं–इसका विचार करना।

जिस भाषण को सुनते हो और जिन सद्-ग्रन्थों को पढ़ते हो, उनके सार मर्म को बहुत संक्षिप्त भाषा में एक अलग नोट बुक में लिख लेना और उसे बीच-बीच में पढ़ते रहना।

घाट पर रुपया-पैसा देखने में आवे तो उसे लेना उचित नहीं है। जो सामिग्री तुम्हारी अपनी नहीं है, वह चाहे कहीं भी रहे, रहने दो। उसको तुम मत उठाओ। इस प्रकार से अर्थ संग्रह करके उसके द्वारा भगवान की मनौती मान लेने से हानि नहीं होगी—ऐसा मत सोचना।

ध्यान रखना, कि तुम्हारे किसी भी कर्म से सत्य और पवित्रता की क्षति न हो। सत्य को छोड़कर जो कर्म किया जायेगा वह उन्नति में विघ्न रूप ही होगा। जिस दिन जो भी सद्-शिक्षा प्राप्त हो, उसे नोट कर लो।

तीन दैवी गुणों की आवश्यकता है 'ब्रह्मचर्य सरलता और निर्भरता। एक ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने से ही सरलता भी स्वतः आ जायेगी। वैराग्यवान व्यक्तियों के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। इसलिये उनमें निर्भरता भी आवेगी ही।

जन-संग अत्यन्त विघ्नरूप है; विशेषकर जिनमें वैराग्य दृढ़ नहीं हुआ उनके लिये।

"अहिरिव जनयोगं" आज इतना ही।

शिवमस्तु। इति।



४६

ॐ

नारायणेषु !

आपका पत्र मिला। दिन में न सोना ही अच्छा है। दोपहर के समय सोने से आलस्य बढ़ता है, शरीर अस्वस्थ होता है और मन भी विगड़ता है। कुछ दिन कुछ कष्ट उठाकर भी निद्रा को रोकने की चेष्टा करें, तो सम्भव है फिर निद्रा न आवे। निद्रा को जितना बढ़ाया जाय, उतनी ही बढ़ जाती है और जितना कम किया जाय उतनी ही कम हो जाती है।

सावधान रहना चाहिये जिससे कभी कोई अन्याय कर्म न हो। अच्छे अर्थात् शुभ गुण सम्पन्न होने के लिये, शान्ति प्राप्त करने के लिये चेष्टा करनी चाहिये। आप जैसी चेष्टा करोगे, वैसा ही फल मिलेगा। आपके जितने बन्धु-बान्धव हैं, उनमें से किसी से भी धर्म मार्ग पर सहायता

मिलने की आशा मत रखना। भगवान की कृपा और अपनी चेष्टा पर ही पूर्णतया निर्भर करना होगा।

सोचकर देखिये, जीवन के कितने वर्ष बीत चुके हैं; उनमें यदि अच्छे होने के लिये यत्न करते, यदि बाल्यकाल से ही धर्म पर ध्यान देते, तो आज न जाने आपको कितनी शान्ति मिलती। अच्छा होने के लिये अब भी तो सुयोग है, यदि उसे आप न खोयेंगे, तो इसी जीवनकाल में शान्ति लाभ की आशा कर सकते हैं। अब भी आपके शरीर में शक्ति है, इस समय भी इच्छा करें तो बहुत कार्य कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि समय को वृथा व्यतीत करेंगे तो आपके लिये वृद्धावस्था में बहुत अशान्ति भोगने की सम्भावना रहेगी। उस समय शरीर अस्वस्थ रहेगा और मन के भी खराब होने की संभावना रहेगी। वृद्धावस्था में तो इच्छा होने पर भी धर्मलाभ के लिये चेष्टा करनी बहुत कठिन होगी, अतः अभी समय रहते हुए सर्वदा साधु-भाव से रहना आरम्भ कीजिये। थोड़ा भी समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये।

इसके सिवाय एक और भी ख्याल रखना पड़ेगा। आप जो जप, तप करना चाहते हैं, शायद दूसरे लोग उसे नहीं समझेंगे। इसलिये यदि उनसे कभी विघ्न हो तो क्रोध न करना। सम्भव हो तो किसी-किसी को मीठे-मीठे वचनों से समझा देना। परन्तु ऐसी अवस्था में क्रोध के अधीन होना कभी संगत नहीं है। धर्म-पालन के लिये भी क्रोध करना अन्याय है। इस प्रकार सभी दोषों को कम करना होगा।

घर के सब कर्मों को भली प्रकार सम्पन्न करें। जब जो कर्म करें उसमें खूब ध्यान दें, और उसे भली भाँति करने की चेष्टा करें। बेगार की तरह किसी भी कर्म को

न करें। आलसी न बनें। शरीर से जितना परिश्रम हो सके, उतना कर्म करने से जी न चुरावें। आप संसार में सबकी सेवा कर रहे हैं, इसी भावना से कर्म करें। उससे संसार के लोग भी प्रसन्न होंगे और साथ ही भगवान भी। दूसरे लोग अच्छे नहीं है, इस कारण आपको भी बुरा नहीं हो जाना चाहिये। आप स्वयं जितने अच्छे होंगे, दूसरों के प्रति जितना प्रेम रखेंगे, समभाव से सबकी जितनी सेवा करेंगे, उतना ही आपका उपकार होगा, और उतनी ही आपको शान्ति मिलेगी। प्रत्येक कार्य को आरम्भ करते समय एक बार भगवान को स्मरण कर लिया करें।

जब तक आप मन को कर्म में संलग्न रखेंगे तभी तक मन भी अच्छा रहेगा।

ध्यान रखना कि कभी किसी के प्रति विद्वेष उत्पन्न न हो। यदि कोई आपके साथ बुरा व्यवहार भी करे, उसे भी धैर्य के साथ सहन करें। क्रोध न करें। जिस पर जितना अधिक प्रेम रखेंगे, उसका दोष उतना ही अधिक सहन कर सकोगे। सबके प्रति समान प्रेम रखने से फिर क्रोध का विशेष आक्रमण नहीं होगा। यदि कभी अचानक क्रोध आ जाय, तो उस समय मौन हो जायँ। सम्भव हो तो भगवान का नाम जप करने लगें या अन्य स्थान में जाकर किसी सत् कर्म में लग जायँ किसी की निन्दा न करें, घृणा और विद्वेष जितने कम होंगे, उतना ही जीवन शान्तिमय होगा।

जब कुछ भी कार्य न रहेगा, तब जप या मानस पूजा करना या किसी सद्ग्रन्थ का पाठ करना।

जब भी मन खराब हो, तभी किसी कर्म को आरम्भ करदें अथवा जप करने के लिये बैठ जायँ। बुरा

चिन्तन आते ही, उसे निकाल कर जप में मन को एकाग्र कर दें। जितने अधिक समय सम्भव हो, जप करें। केवल जप के द्वारा ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। और जप करना, कठिन कार्य भी नहीं है,—केवल इच्छा मात्र से ही किया जा सकता है। कितने साधक तो समस्त कर्मों का त्याग कर रात-दिन केवल जप ही करते हैं; यदि किसी प्रकार से एक भी श्वास व्यर्थ अर्थात् बिना जप से व्यतीत होता है, तो उन्हें असीम व्यथा का अनुभव होता हैं।

कभी इच्छा हो तो, ध्यान या मानस पूजा भी कर सकते हैं। चाहे किसी भी प्रकार से हो, जितने अधिक समय सम्भव हो, भगवान में मन को संलग्न रखने की चेष्टा करें। इस प्रकार चेष्टा के फलस्वरूप भगवान में अनुराग उत्पन्न होगा। पहिले पहल इच्छा न होने पर भी थोड़ी जबरदस्ती तपस्या करनी पड़ती है, मन एकाग्र न होने पर भी वाचनिक जप करना पड़ता है। कुछ दिन पश्चात मन थोड़ा शान्त होगा एवं साधन में भी कुछ आनन्द मिलेगा। और भी अधिक दिन पश्चात, ऐसी स्थिति होगी कि साधन के समान और कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा; तब सदा ही साधन करने की इच्छा होगी। तब साधन में अनुराग होगा, भगवान में अनुराग होगा और फिर तो सारा संसार विरोधी होने पर भी आप भजन नहीं त्याग सकेंगे। वह शुभ दिन जब तक न आवे, तब तक जबरदस्ती और कष्ट उठाकर भी तपस्या करते रहिये। श्रद्धा की रक्षा कीजिये। धैर्य की रक्षा कीजिये। दो गुण रहने पर फिर अच्छा होने में अधिक दिन नहीं लगेंगे। शिवमस्तु। इति।

श्रीकाशीधाम
२९-८-१२

५०

ॐ

नारायणेषु !

तीन विषयों का त्याग करना :—
'आलस्य, कुसंग तथा मिथ्या-व्यवहार।

भय किस बात का। जगाई-मधाई का उद्धार हुआ। रत्नाकार वाल्मीकि हो गये, बिल्वमंगल संसार में प्रख्यात महापुरुष हुए, और तुम अच्छे नहीं हो सकोगे? तुम्हारी शक्ति अल्प क्यों? तुम्हारे लिये सुयोग का भी क्या अभाव? केवल इच्छा रहने पर ही होगा। केवल आवश्यकता है इच्छा की। उन्नत होने के लिये इच्छा करो और उसे अधिक प्रबल करो। तीव्र इच्छा से उत्पन्न होगी और वह तुम्हारे जीवन को धन्य कर देगी।

इच्छा क्यों होगी? इच्छा होनी ही चाहिये,—इस विचार द्वारा निश्चय कर लो। अच्छे न होने के बुरे फल का ख्याल रखो, और अच्छे होने के सुफल के विषय में

धारणा करो। कितने व्यक्ति अच्छे हुए हैं, और भी कितने व्यक्ति अच्छे होंगे साधारण स्थिति से भी कितने व्यक्ति उन्नत हुए हैं, इन सब विषयों में ध्यान दो। इससे भी इच्छा जागेगी। इसके पश्चात उन्नति प्राप्त करने के लिये प्रतिज्ञा करो। प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये खूब ध्यान दो। और साध्यानुसार यत्न करो। जब भी खाली रहो, पीछे मत हटो। नवीन तेज और उत्साह से फिर कार्य आरम्भ करो। प्रत्येक मुहूर्त में याद रखो—तुम्हारा नवीन जन्म हुआ है, पूर्व जन्म के साथ तुम्हारा कुछ भी सम्पर्क नहीं है। अभी से अच्छी तरह समय व्यतीत करना होगा। अतीत में, अतीत के अनेक जन्मों में जो सुयोग अनायास गँवाया है, उसके लिये व्यर्थ अनुताप करने की आवश्यकता नहीं है। भविष्य में किसी भी सुयोग को मत गँवाना। सावधान रहो। कृपामय भगवान हमारे मंगल के लिये कितने ही समय कितने ही सुयोगों को हमारे द्वार पर ही भेजते हैं—ख्याल रखना और उन सुयोगरूपी यष्टियों (लाठियों अर्थात् आश्रयों) का त्याग न करना। जब भी मन अच्छा रहे, उस अच्छे समय का जितना हो सके, सदुपयोग करना।

तुम्हारी जितनी शक्ति और जितनी सामर्थ्य है, उसके अनुसार ही चेष्टा करो। बाकी ईश्वर पूर्ण कर देंगे। उन्होंने तुम्हें जितना दिया है। उससे अधिक शक्ति का परिचय तुमसे वे नहीं चाहते। जितना सम्भव हो करते रहो, उससे ही कार्य होगा।

शिवमस्तु। इति।

स्वर्गाश्रम
२१-७-'२०

५१

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला। जिस प्रकार से साधन-भजन करने को कहा है, उसी प्रकार से करते रहो। उससे ही सारी असुविधायें मिट जायेंगी। प्रतिदिन ही ध्यान, जप, पूजा और प्रार्थना करना।

जब भी कुछ असुविधा मालूम हो, संशय सन्देह तथा अविश्वास घेर लें, दुर्बलता उत्पन्न होकर निकलने को तैयार हो, साधन-भजन में मन एकाग्र न हो तथा चेष्टा करके भी मन को संयत न कर सको, तभी व्याकुल होकर भगवान से प्रार्थना करने के लिये बैठ जाओ। भगवान कल्पतरु हैं, उनसे सरल हृदय से जो पुरुष जो भी याचना करता है, उसे वही मिल जाता है। दूसरे के द्वार पर भीख मांगने की आवश्यकता नहीं है। संसार में सभी अल्पाधिक भिक्षुक और गरीब

हैं। उनसे याचना करके भला कितना मिलेगा ? यदि याचना करना ही हो तो उनसे ही माँगो। जब जो आवश्यक होता है, वे सभी दे सकते हैं। उनका अक्षय भण्डार सदा ही हमारे लिये खुला हुआ है।

प्रतिदिन ठीक समय पर उन्हें हृदय सिंहासन पर बैठाकर विविध कल्पित सामग्रियों से उनकी मानसिक पूजा करो। जिस प्रकार पूजा करने से तथा जो-जो वस्तु अर्पण करने से मन प्रसन्न हो, उस-उस वस्तु के द्वारा उसी रीति से पूजा करना। पूजा के पहले और पश्चात मूर्ति को ध्यानपूर्वक देखो और उसे नमस्कार करो। पूजा के पश्चात् यथा-साध्य नाम-जप करो। अन्य समय भी जितना अधिक समय सम्भव हो, नाम-जप करते रहो। नाम-जप में समय-असमय, शुचि-अशुचि, सुस्थान-कुस्थान का भेद नहीं करना चाहिये। नाम ही सारे पापों को नष्ट करने में समर्थ है। नाम-जप के द्वारा समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। इसलिये सब चिन्ताओं को छोड़ कर यथा-शक्ति नाम-जप करते रहो। भगवत्स्मरण जितने अधिक समय हो, उतना ही मंगल है। सद्ग्रन्थों का पाठ करो। सदा पवित्र रहो। सर्वदा नियमनिष्ठ और समयनिष्ठ होकर भलीभाँति कर्त्तव्यों का सम्पादन करो। कभी सत्य का परित्याग न करो। जितना हो सके, जगत् का उपकार तथा सेवा करने का प्रयत्न करते रहो। कपट तो बहुत ही बुरा है। जब तक मनुष्य सरल रहता है, तब तक उसे कोई भय नहीं होता।

जैसा लिखा गया है यदि उसके अनुसार चल सकोगे तो सच्चे मनुष्य बन जाओगे। इच्छा जागृत होने पर ही, उपर्युक्त रीति से चल सकोगे अर्थात् अपना जीवन

गठन कर सकोगे। यह बहुत कठिन कार्य नहीं है। संसार में बहुत लोग अच्छे हुए हैं और भी बहुत लोग अच्छे होंगे। अच्छा होना हमारा धर्म है। यदि दूसरे लोग अच्छे हो सकते हैं तो हम क्यों नहीं हो सकते? इच्छा करो, दृढ़प्रतिज्ञ बनो और चेष्टा करते रहो—भगवान सहायता करेंगे। उनकी कृपा से सिद्धि लाभ अवश्य ही होगा। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

तेंतुलतला वर्द्धमान
६ जेठ १३२४ साल

५२

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र पढ़कर "यह साधु का पत्र है" ऐसा मालूम नहीं होता। तुमने अपना घर-बार क्यों छोड़ा है—क्या यह याद है? किस उद्देश्य से वहाँ रहते हो—क्या इसका कभी चिन्तन करते हो? किस प्रकार से जीवन व्यतीत करने पर गैरिक वस्त्र का सम्मान रह सकता है, और किस तरह समय व्यतीत करने से भिक्षान्न में अधिकार उत्पन्न होता है—क्या यह सब सोचकर, कुछ विचार करते हो? जितना समय तपस्या के लिये अर्पण करते हो, उससे अधिक समय तपस्या में लगाना तुम्हारे लिये सम्भव और उचित है या नहीं–क्या इन सब विषयों पर विचार करने का तुम्हें समय मिलता है? तुमसे अधिक सद्भाव से कोई जीवन को व्यतीत करता है या नहीं—क्या इस बात का अनुसन्धान कभी करते हो? आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये जितनी अधिक चेष्टा करनी

तुम्हारे लिये सम्भव है, क्या उतनी चेष्टा तुम कर रहे हो ? यदि इच्छा हो और अवसर मिले तो इन सब बातों पर एक बार चिन्तन करके देखना। उस चिन्तन का फल मुझे सूचित करने की आवश्यकता नहीं है। अपने को सन्तुष्ट कर सकने से ही वह सार्थक होगा। इस प्रकार से और कितना समय व्यतीत करोगे ? यदि इस समय शक्ति और सुयोग का दुरुपयोग करोगे, तो भविष्य में क्या होगा ? इस पर सोच-विचार करना इस विषय में आज इतना ही।

शिवमस्तु।

श्री काशीधाम
२०-९-'२१

५३

ॐ

नारायणेषु ।

तुम्हारा पत्र मिला । तुम क्यों निराश हो रहे हो और अनावश्यक विषाद से अपने को दुर्बल बनाते हो ? अतीत तो हत हो चुका और वर्तमान में जीवित रहने का उसका कोई अधिकार नहीं हैं। तुम्हारी अतीत की असफलता की चिन्तायें एवं निराशायें विस्मृति के अतल गर्भ में डूब जायँ। उत्साही बनो और आगे बढ़ो। भविष्य तुम्हारे लिये उज्ज्वल तथा सुखमय है। केवल आगे चलो और ध्येय पर पहुँच जाओ। तुम इस समय चिरतुषारावृत हिमालय की गोद में, जहाँ आध्यात्मिक उत्कर्ष का चरम विकास हुआ था, रहते हो। अनन्त अतीत की आध्यात्मिक तरंगे वहाँ पर सत्य के नवीन अनुसन्धित्सु के लिये मानो अक्षुण्ण एवं सतत वेगवती शक्ति से अपेक्षा कर रही हैं। इसलिये तुम्हें किसी भी कारणवश निराश

नहीं होना चाहिये। जितना सम्भव हो अपनी तपस्या में लगे रहो। यथाशक्ति चेष्टा करो और इतना ही तुमसे अपेक्षित है।

वर्तमान में जब कि तुम्हारा स्वास्थ्य बीमारी से नष्ट हो गया है, तुम्हारे स्वास्थ्य के लिये विशेष ध्यान देना पड़ेगा। तुम्हारा दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार होना चाहिये जिससे तुम्हारा स्वास्थ्य नष्ट न हो। क्योंकि इस समय तपस्या ही तुम्हारा एकमात्र कर्त्तव्य है। तुम्हें अपने मित्रों को अनावश्यक पत्र नहीं लिखना चाहिये। जितना सम्भव हो, संसार से सम्बन्ध छिन्न करो। किसी भी पत्र का उत्तर देने का ख्याल नहीं करना चाहिये। जब आवश्यक हो केवल मुझे ही पत्र लिखना।

आज इतना ही। ॐ

श्रीकाशीधाम
२३-१०-२३

५४

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला। जब भी जो कुछ खाओ, उसे श्रीभगवान को निवेदन करके श्रीभगवान का प्रसाद समझ कर ग्रहण करो। गंगा में मिल जाने से जैसे सभी जल पवित्र हो जाते है, श्रीभगवान के स्पर्श से वैसे हो सभी वस्तुऐं पवित्र हो जाती हैं।

× × ×

जो निद्रा के उपद्रव के भारण दैनिक कार्यों को सुसम्पन्न नहीं कर सकता, जो युयक I. A- Class (प्रारम्भिक कक्षा) के पाठ को भी योग्य रीति से तैयार नहीं कर सकता, वह संसार-समुद्र के पार जा सकेगा, इसकी कितनी आशा है ? क्या धर्मलाभ करना इतना सुगम है ? जो और किसी भी कार्य के योग्य है,क्या वह बंगदेश की संस्कृत पाठ-

शालाओं में पढ़ने की तरह धर्मलाभ के लिये अग्रसर होने का अधिकारी है ? समझने में भूल न करो, पहिले विचार कर देखो। फिर कार्य में हाथ लगाओ। अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा तथा अपनी और दूसरों की हानि भी होगी। याद रखो, जो पुरुष कण्टका कीर्ण वन में चलते हुए रुधिर की नदी में तैरते हुए धर्ममार्ग में आगे बढ़ सकता है, और धैर्य वीर्य श्रद्धा, साहस, उत्साह तथा अध्यवसाय को नहीं गँवाता है, वही निर्वाण प्राप्त करने की आशा कर सकता है। यह मार्ग वीर पुरुष के लिये ही है—कायर के लिये नहीं—संसार संग्राम के भय से वाले के लिये नहीं। ॐ

स्वर्गाश्रम।
५-१२'-१९.

५५

ॐ

नारायणेषु !

अपराह्न का समय था। एक छोटा सा मेला लगा हुआ था। उस मेले में एक वृद्ध मुसलमान अपनी कुमारी कन्या को साथ लेकर घूम रहा था इतस्ततः घूमते हुए एक मूर्तियाँ बेचने वाले की दुकान के सामने आते ही, वह बालिका अचानक ठिठक कर खड़ी हो गई और एक मूर्ति की ओर अँगुली करके उसे लेने के लिये तीव्र इच्छा प्रकट करने लगी। पिता ने कहा, 'वह हिन्दुओं की देवमूर्ति है. उससे कुछ काम नहीं बनेगा और मूर्ति (खिलौना) खरीद लो।' बालिका ने कहा, "मेले में उसके समान सुन्दर मूर्ति कोई भी नहीं है। मैं तो उसी को ही लूँगी।" पिता ने विवश होकर वही मूर्ति खरीद कर बालिका को दी। घर जाकर बालिका उस मूर्ति के साथ खेलने लगी। खेल समाप्त करके उसने मूर्ति यत्न के साथ

एक स्थान पर रखदी । अगले दिन फिर कुछ समय तक उसके साथ खेली । उससे अगले दिन, उससे भी अगले दिन—इसके पश्चात् प्रतिदिन ही उस मूर्ति के साथ उसका खेल चलता रहा । क्रमशः उसके साथ खेलने में बालिका का अधिकाधिक समय व्यतीत होने लगा । वह नाना-भावों से नाना प्रकारों से दिन के अधिक समय तक उस मूर्ति को लेकर ही व्यस्त रहती । क्रमशः बालिका इस खेल में इतनी मस्त हो गई कि उसको और कुछ भी प्रिय नहीं लगने लगा । और किसी भी विषय में उसके मन की लगन नहीं रही, बस रात-दिन केवल उस मूर्ति के साथ खेलते रहना । अन्त में वह 'मूर्ति के साथ खेलना' नहीं रहा; अपितु बालिका और 'मूर्ति'—दोनों ही खेलने, हँसने, आमोद-प्रमोद करने और बातचीत करने लगे । बालिका जब बड़ी (वयस्क) हुई तो उसके अभिभावक उसके विवाह की व्यवस्था करने लगे । तब बालिका ने कहा, "मेरा विवाह तो इस मूर्ति के साथ हो गया ।" अतः फिर उस बालिका का विवाह नहीं हुआ । उसके प्राण मूर्तिमय हो गये, और वह दिन-रात मूर्ति में ही विभोर रहने लगी । उसके लिये जगत् मूर्तिमय और मूर्ति जगन्मय हो गई । उसका हृदय मधुमय हो गया और उसके लिये विश्व ब्रह्माण्ड भी मधुमय बन गया । उसके दिन परम-आनन्द में व्यतीत होने लगे बालिका के प्रेम की पुण्य किरणों ने क्रमशः उसके आत्मीय तथा बन्धुओं के हृदयों को भी अनु-रञ्जित कर दिया । उन्होने एक विशाल मन्दिर निर्माण करवा कर उसमें उस बालिका के प्रियतम, उसके आराध्य भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्र की उस अत्यन्त सुन्दर मूर्ति की प्रतिष्ठा की । सम्भवतः आज भी सिन्धु देश में वह मन्दिर विद्यमान है ।

इस बालिका ने जिस प्रकार से भक्ति प्राप्ता की थी, हम तुमभी उसी प्रकार से प्राप्त कर सकेंगे। सरल हृदय वाले भक्तों के प्रति भगवान की प्रेम-लीलाऐं श्रवण करो, भक्ति शास्त्रों से उनकी महिमा के प्रसंग पढ़ो, मन ही मन भगवन्माहात्म्य के विषय में चिन्तन करो और अपने बन्धुओं के हाथ भगवत्-प्रसंगों की चर्चा करो। मन्दिर में जाकर प्रणाम और प्रदक्षिणा करो। भगवत्स्तोत्र और भगवन्नामोंका पाठ करो। जिस घर में अधिक समय व्यतीत करते हो, उसकी दीवार पर उचित स्थान में एक दर्शनीय इष्ट मूर्ति की स्थापना करो एवं पुनः-पुनः उसको देखते रहो। मन ही मन भगवान की दिव्य मधुर मूर्ति का चिन्तन करो, मनः-कल्पित उपकरणों से उसकी पूजा करो और भगवान के प्रति सरल हृदय से प्रार्थना करो। जब भी सम्भव हो, उसके नामों का चिन्तन या उच्चारण करो। कभी कागज पेन्सिल लेकर उनके चित्र को अंकित करो या कभी भगवत्-विषयक गीत गाओ। उनसे प्यार (प्रेम) करो। खेल करो और बात-चीत करो। कोई श्रेष्ठ वस्तु दिखाई दे तो तुरन्त उसे मन से ही इष्टदेव को अर्पित कर दो भोजन की सामग्री भी उन्हें अर्पित करके उनके प्रसाद रूप में ही ग्रहण करो। चलने के समय सोचो कि वे तुम्हारे साथ ही चल रहे हैं। लिखने के समय सोचो कि सामने खड़े होकर वे तुम्हारे खेल को देख रहे हैं। शयन के समय निद्रा आने से पूर्व चिन्तन करो कि वे प्रसन्न वदन से तुम्हारी ओर देख रहे हैं। चाहे किसी को भी देखो, सोचो कि तुम्हारे हृदय में तुम्हारी इष्ट मूर्ति ही विराजमान है। भगवान का आदेश ग्रहण करके एवं उनकी ही प्रीति के लिये समस्त कर्त्तव्यों को सुसम्पन्न करो। इस प्रकार जितनी विभिन्न भावनाओं को आश्रय करके जितने अधिक

समय सम्भव हो उनका चिन्तन करो, उनकी ओर मन को एकाग्र करो। इस प्रकार करते हुए उनसे प्रेम होगा और बढ़ेगा। पश्चात् उस प्रेम का मधुमय प्रवाह जब तुम्हारे हृदय कमल को अभिषिक्त करेगा, तब भगवत्-भृङ्ग की ऐसी शक्ति नहीं रहेगी कि वह उस कमलासन को क्षणकाल के लिये भी छोड़ सको।

तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो एक प्रकार से दे दिया। परन्तु पत्र पढ़ने से ही या उसकी समालोचना करने से ही भक्ति प्राप्त नहीं होगी। कर्म करना चाहिये, कर्ममें लगे रहना चाहिये। भक्ति का मार्ग बहुत ही सुगम है। इस मार्ग में कठोर विधि-निषेध की अधीनता नहीं है। इस मार्ग में केवल चाहिये तीव्र उत्साह। विघ्न विपत्तियाँ तो अवश्य आवेंगी। अतीत के अनन्त जन्मों में तुमने कितने ही विषयों का सेवन किया है, इस बार भी अब तक विषयों के पीछे कितने घूमे हो; इन सब कर्मों की शक्ति तो तुम्हें फिर भी अवश्य विषय की ओर ही आकर्षित करेगी और भजन में अनिच्छा भी उत्पन्न कर देगी। किन्तु भक्ति प्राप्ति के लिये जिसे इच्छा उत्पन्न हो गई हैं, जो लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रतिज्ञा बद्ध हो गया है, वह विघ्न बाधा रहने से भी कर्त्तव्य से च्युत नहीं होगा। सम्भव है कभी प्रलो-भन उसे परास्त भी करदे, किन्तु उस पराजय के कारण वह उद्यम हीन नहीं होता। अन्त में उसकी जय ही जय है। परि-णाम में जय होने के कारण वह जय लाभ पर्यन्त साधन संग्राम में ही लगा रहता हैं। पराजित होने पर भी वह अधिक साव-धानी के साथ अग्रसर होता है। विचार और प्रार्थनादि की सहायता से इन्द्रिय संयम की चेष्टा करके, एक ओर जैसे वह इन्द्रिय संयम और सदाचारण के बल से मन की स्थिरता के

सम्पादन में यत्नशील होता है, दूसरी ओर वैसे ही धैर्य और अध्यवसाय के साथ वह भगवच्चिन्तन में लगा रहता है। इस प्रकार करते हुए अन्त में वह निश्चय ही "निर्गच्छति जगज्जालात् पिञ्जरादिव केशरी," संसार-जाल से निकल पड़ता है। यदि तुम इस मार्ग का अवलम्बन न लेकर कृमि-कीट की भाँति इन्द्रियों के दास होकर ही संसार मार्ग में विचरते रहोगे एवं जीवन के लक्ष्य को भूल कर पुरुषार्थ का परित्याग करके यदि स्रोत के प्रवाह में अपने को छोड़ दोगे, तो समझ लो कि और भी अनेक जन्म, अनेक दुःख और घोर अशान्ति अवश्य ही तुम्हारे भाग्य में सञ्चित हैं।

जिस शक्ति और सुयोग को प्राप्त किया है, यदि उनका सद्व्यवहार नहीं करोगे, तो व्यर्थ ही है तुम्हारा मनुष्यत्व, व्यर्थ ही है तुम्हारा ब्राह्मणत्व औरव्य र्थ है तुम्हारा 'वीरेन्द्र' नाम। आज इतना ही बहुत है।

शिवमस्तु ! इति।

कनखल
२०-९'-१७

गुरु-वन्दना

१

ॐ स्वार्थ-शून्यो दयापूर्णः शान्तः शुद्धो जितेन्द्रियः ।
शास्त्रज्ञो यो महाज्ञानी गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

२

" जाग्रत - स्वप्न - सुषुप्तिश्च तुरीयं तदतीतकम् ।
याथार्थ्येन विजानाति गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

३

" पृथिव्यादीनि भूतानि जानाति व्योम पञ्चकम् ।
देहं विश्वं विजानाति गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

४

" षट् - चक्रञ्च सहस्रारं जानाति ज्ञान-नेत्रतः ।
शिवं जीवं विजानाति गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

५

" विन्दुं नादं कलां वेत्ति सर्वातीतं निरंजनम् ।
सगुणं निर्गुणं वेत्ति गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

६

" परां जानाति पश्यन्तीं मध्यमां वैखरीं तथा ।
सर्वातीत च यो वेत्ति गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

७

" वर्ण - तत्वं विजानाति मन्त्र - तत्वं स्वरूपतः ।
वेत्ति यो साधनं साध्यं गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

८

" ज्ञानं भक्ति लयं योगं वेत्ति यो कर्म - कौशलम् ।
यत्नतो बोधयेत् शिष्यं गुरुं त प्रणमाम्यहम् ॥

९

ॐ ज्ञायते प्राप्यते सर्वं यत् - कारुण्य - प्रभावतः ।
यत् - कृपैका बलं पुंसां गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

१०

" नास्ति काचित् कृत्तिर्यस्य विना शिष्य-विमोचनम् ।
अप्रमत्तः सदा तस्मिन् तं गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥

११

" अप्रमत्तः सदा यो हि शिष्यानुग्रह - निग्रहे ।
सर्व - सिद्धान्त - सारज्ञो गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

१२

" स्वयमेव शिवो यो हि शिष्यान् शास्ति प्रयत्नतः ।
शिष्य - क्लैशोपहर्तारं तं गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥

१३

" यं पश्यन् श्रद्धया वेत्ति नरः शास्त्रं परेश्वरम् ।
अद्भुतं चरितं यस्य गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

१४

" संसेव्य यं समाप्नोति श्रद्धावान् पदमव्ययम् ।
असंगो यो महायोगी गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

१५

" सदैव यो गुणातीतः सेव्यते यो गुणैः सदा ।
गुणागुण - विहीनन्तं गुरुं ब्रह्म नमाम्यहम् ॥

१६

" परानन्दमयो यो हि पूर्णविज्ञान - विग्रहः ।
शिवरूपं सदापूर्णं गुरुं तं प्रणमाम्यहम् ॥

स्वामी श्रीपूर्णानन्द गिरि, द्वारा लिखे

अन्य ग्रन्थ : —

१. वेदवाणी	पहला, दूसरा, तीसरा भाग	बंगलाभाषा
२. वेदवाणी	पहला भाग	हिन्दी भाषा
३. Yoga and Perfection		अंग्रेजी भाषा
४. पूर्ण ज्योति		संस्कृत भाषा
५. पूर्ण ज्योति		संस्कृत भाषा

मुद्रक : राजू प्रिन्टिंग प्रेस, मथुरा गेट-वृन्दावन (मथुरा)